THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

हिंदी साहित्य

वैकल्पिक विषय

विशेष अंक

समसामयिक साहित्यिक चर्चा / स्तम्भ

हिंदी साहित्य से सिविल सेवा परीक्षा का साक्षात्कार दे रहे अभ्यर्थियों हेतु अत्यंत उपयोगी

- *महात्मा गांधी कैसा रामराज्य चाहते थे?*
- *राज्यसभा में पहली बार संथाली बोली गई*
- *जयपुर लिटफ़ेस्ट*
- *साहित्य अकादमी पुरस्कार*
- *हिंदी पहले राष्ट्रीय तो बने, अंतरराष्ट्रीय अपने आप बन जाएगी*
- *ज्ञानपीठ पुरस्कार*
- *राजेंद्र यादव अपने भीतर बसे आदिम पुरुष से लगातार लड़ते थे*

अगर राम के नाम पर हमें बांटा जा रहा है तो हम कृष्ण के नाम पर एक हो जाएं

THE CORE IAS
08800141518

www.thecorerias.com/hindi-literature

हिंदी साहित्य

पत्रिका

संकलकर्ता/ संपादक
अरविन्द कुमार

011-41008973
+91-8800141518

ई - मेल

Thecore.org.in@gmail.com

प्रधान कार्यालय :-
103 बी 5 /6 द्वितीय तल हिमालिका भवन ,यूको बैंक के पीछे , डॉ. मुख़र्जी नगर दिल्ली - 110009

बिल्डिंग 56 तृतीय तल कोटक महिंद्रा बैंक के पास ओल्ड राजेंद्र नगर मार्किट नई दिल्ली - 110060
+91 -9873833547

चैम्बर संख्या तृतीय द्वितीय तल , बत्रा सिनेमा काम्प्लेक्स डॉ. मुख़र्जी नगर , दिल्ली - 110009

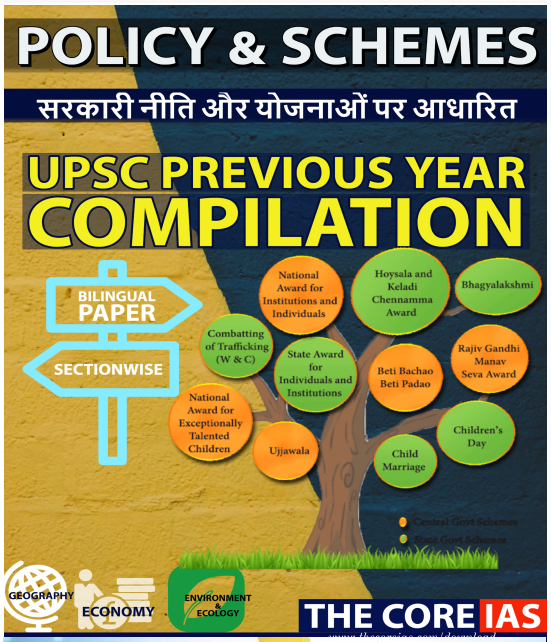

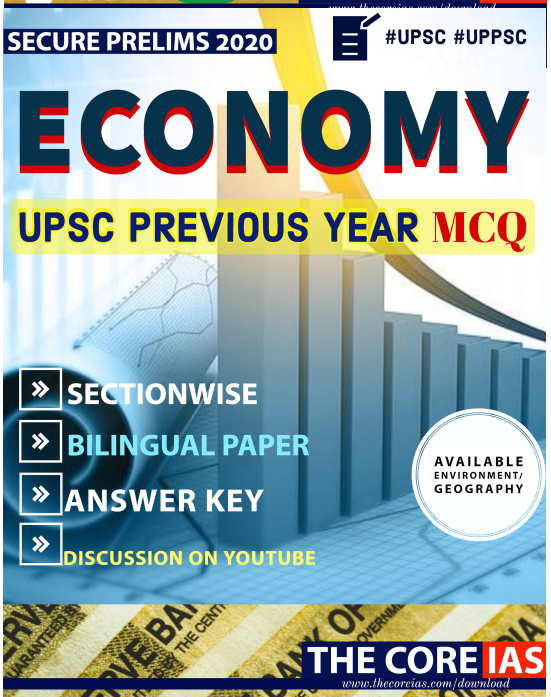

© THE CORE IAS

हिंदी साहित्य

वैकल्पिक विषय

कक्षा कार्यक्रम

सायं 3 बजे

डॉ. मुख़र्जी नगर

मुख्य परीक्षा 2020 पर आधारित उत्तर लेखन कक्षा

14 जून

उत्तर लेखन पर आधारित टेस्ट सीरीज

ओल्ड राजेंद्र नगर

डॉ. मुख़र्जी नगर

अन्य जानकारी हेतु **QR** कोड को स्कैन करे

THE CORE IAS

प्रधान कार्यालय :-

103 बी 5 /6 द्वितीय तल हिमालिका भवन ,यूको बैंक के पीछे

, डॉ. मुख़र्जी नगर दिल्ली - 110009

011-41008973/8800141518

राजेंद्र नगर:-

बिल्डिंग 56 तृतीय तल कोटक महिंद्रा बैंक के पास

ओल्ड राजेंद्र नगर मार्किट नई दिल्ली - 110060

+91 -9873833547

वरिष्ठ साहित्यकार कृष्ण बलदेव

- कृष्ण बलदेव वैद की लेखनी में मनुष्य जीवन के नाटकीय सन्दर्भों की गहरी पहचान है. अपनी रचनाओं में उन्होंने सदा नए से नए और मौलिक-भाषाई प्रयोग किये हैं जो पाठक को 'चमत्कृत' करने के अलावा हिन्दी के आधुनिक-लेखन में एक खास शैली के मौलिक-आविष्कार की दृष्टि से अर्थपूर्ण हैं.
- कृष्ण बलदेव वैद अपने दो कालजयी उपन्यासों- 'उसका बचपन' और 'विमल उर्फ़ जाएं तो जाएं कहां' के लिए सर्वाधिक चर्चित हुए हैं.
- एक मुलाक़ात में उन्होंने कहा था, 'साहित्य में डलनेस को बहुत महत्व दिया जाता है. भारी-भरकम और गंभीरता को महत्व दिया जाता है. आलम यह है कि भीगी-भीगी तान और भिंची-भिंची सी मुस्कान पसंद की जाती है. और यह भी कि हिन्दी में अब भी शिल्प को शक की निगाह से देखा जाता है.

परिचय

जन्म : 27 जुलाई 1927, डिगा (पंजाब)

भाषा : हिंदी

विधाएँ : उपन्यास, कहानी, नाटक

मुख्य कृतियाँ

उपन्यास : उसका बचपन, विमल उर्फ जायें तो जायें कहाँ, नसरीन, दूसरा न कोई, गुजरा हुआ जमाना, काला कोलाज, नर नारी, माया लोक, एक नौकरानी की डायरी, दर्द लादवा

कहानी संग्रह : बीच का दरवाजा, मेरा दुश्मन, दूसरे किनारे से, लापता, उसके बयान, पिता की परछाइयाँ, रात की सैर, बोधिसत्व की बीवी, बदचलन बीवियों का द्वीप, वह और मैं

नाटक : भूख आग है, हमारी बुढ़िया, सवाल और स्वप्न, परिवार अखाड़ा

हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार स्वयं प्रकाश का निधन

- गतिशील लेखक संघ की मुखपत्रिका 'वसुधा' और बच्चों की चर्चित पत्रिका 'चकमक' के संपादक रहे स्वयं प्रकाश के एक दर्जन से अधिक कहानी संग्रह और पांच उपन्यास प्रकाशित हुए थे.
- स्वयं प्रकाश का जन्म 20 जनवरी 1947 को मध्य प्रदेश के इंदौर शहर में हुआ था. उन्हें एक कहानीकार के तौर पर जाना जाता था. कहानी के अलावा उन्होंने उपन्यास और दूसरी विधाओं में भी अपनी कलम का जादू बिखेरा था.
- उनके लिखे उपन्यास जलते जहाज पर (1982), ज्योति रथ के सारथी (1987), उत्तर जीवन कथा (1993), बीच में विनय (1994) और ईंधन (2004) हैं. 'सूरज कब निकलेगा' राजस्थान के मारवाड़ इलाके में 70 के दशक में आई बाढ़ पर लिखी गयी कहानी थी. राजस्थान उनकी कहानियों में अक्सर पाया जाता था.
- राजस्थान में रहते हुए स्वयं प्रकाश ने अपने मित्र मोहन श्रोत्रिय के साथ लघु पत्रिका 'क्यों' का संपादन-प्रकाशन किया तो 'फीनिक्स', 'चौबोली' और 'सबका दुश्मन' जैसे नाटक भी लिखे.
- इसके अलावा मात्रा और भार (1975), सूरज कब निकलेगा (1981), आसमां कैसे-कैसे (1982), अगली किताब (1988), आएंगे अच्छे दिन भी (1991), आदमी जात का आदमी (1994), अगले जनम (2002), संधान (2006), छोटू उस्ताद (2015) नाम से उनके कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं.
- उन्होंने हिंदी से एमए किया था और साल 1980 में उन्हें पीएचडी की उपाधि मिली थी. इसके अलावा उन्होंने मैकेनिकल इंजीनियरिंग की डिग्री भी हासिल की थी.

राम का नाम बदनाम ना करो

THE CORE IAS (A unit of just dream) www.thecoreias.com

- 1971 में एक बड़ी ज़बरदस्त हिट फिल्म बनी थी, 'हरे राम हरे कृष्ण'. हीरो थे देव आनंद और हीरोइन थीं ज़ीनत अमान. इसमें एक गाना था 'राम का नाम बदनाम ना करो'. इसके गीतकार थे आनंद बख्शी और संगीत दिया था राहुल देव बर्मन जी ने. रामनामी दुपट्टे लपेटे, चरस-गांजे का दम लगा रहे हिप्पियों के झुंड को संबोधित करते हुए देव आनंद गा रहे थे - "देखो ऐ दीवानो, तुम ये काम ना करो, राम का नाम बदनाम ना करो, बदनाम ना करो".

दिल्ली के जामिया नगर में जिस व्यक्ति ने अकारण गोली चलाकर एक छात्र को घायल कर दिया, उसने अपने फेसबुक अकाउंट में भगवान राम का नाम लिया है और यह भी कहा है कि उसकी अंतिम यात्रा में उसे भगवे में लपेट कर जय श्री राम के नारों के साथ ले जाया जाए. इससे मुझे 'हरे राम हरे कृष्ण' के इस गाने की बरबस याद हो आयी.

- हिप्पियों को यह भ्रम था कि 'हरे राम हरे कृष्ण' का जाप कर दिया तो उनका नशा सेवन या मुक्त यौनाचार सब माफ़ है. आजकल कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया दिखता है कि कुछ भी कर के 'जय श्री राम' का नारा लगा देंगे तो सारे गुनाह माफ़. जून 2019 में झारखण्ड में जब तबरेज़ अंसारी को हिंसक भीड़ बांधकर क्रूरतापूर्वक पीट रही थी तो उससे ज़बरदस्ती 'जय श्री राम' और 'जय हनुमान' के नारे लगवाए गए थे. उससे पूर्व आम चुनाव के दौरान जब प्रकाश लकड़ा और तीन अन्य ईसाई आदिवासियों को पीटा जा रहा था तो उनके साथ भी यही सुलूक किया गया था. पश्चिम बंगाल में हाफ़िज़ मोहम्मद शाहरुख हल्दर को 'जय श्री राम' का नारा लगाने को कहा गया और जब उसने ऐसा नहीं किया तो उसे चलती ट्रेन से बाहर फेंक दिया गया. बुलंदशहर में इंस्पेक्टर सुबोध कुमार सिंह की हत्या के आरोपियों को जब ज़मानत मिली तो भीड़ ने उनका स्वागत 'जय श्री राम', 'भारत माता की जय' और 'वंदे मातरम' के नारों से किया. गुजरात दंगों के समय भी अनेक दंगाई 'जय श्री राम' के नारे लगा रहे थे.
- इन नारों को सबसे ज्यादा लगाने वाली पीढ़ी से एक-दो पीढ़ी पीछे वाले लोग जानते होंगे कि 'जय श्री राम' का प्रयोग कभी भी आम नहीं था. लोग अभिवादन के लिए 'जै राम जी की', 'जै सिया राम', या 'राम राम' बोला करते थे. फ़ौज में राजपूताना राइफल्स का अभिवादन 'राम राम' रहा है. इनका युद्धघोष भी 'राजा रामचंद्र की जय' है. 1987-88 में रामानंद सागर जी के अतिप्रसिद्ध टीवी सीरियल रामायण में हनुमान जी और अन्य के द्वारा 'हर हर महादेव' के साथ 'जय श्री राम' का युद्धघोष के रूप में प्रयोग किया गया. इसके बाद यह लोगों की जुबान पर चढ़ गया. फिर तो आप जानते ही हैं कि कैसे इसका प्रयोग रामजन्मभूमि आन्दोलन में किया गया. 'हर हर महादेव' युद्धघोष के रूप में बहुत समय से प्रचलित था. पूरे विश्व में केवल बनारस में यह अभिवादन के रूप में या प्रसन्नता व्यक्त करने में भी प्रयोग किया जाता है.
- यानी यह माना जा सकता है कि 'जय श्री राम' का प्रयोग अभिवादन के रूप में प्रचलन में नहीं था. न ही इसका प्रयोग खुशी जाहिर करने के लिए किया जाता था. आपके लोग ज़मानत पर छूट गए, आप खुश हैं, ठीक है. पर खुशी में 'जय श्री राम' कब कहा जाता था? आप 'भारत माता की जय' और 'वंदे मातरम' जब चाहें तब कहने को स्वतंत्र हैं. पर हम देशभक्ति की बात तब करते हैं जब किसी अन्य देश की तुलना में बात हो रही हो. हमारे सैनिकों ने कहीं दुश्मन के खिलाफ पराक्रम दिखाया हो या हम कोई मुकाबला जीत गए हों, तब ये नारे लगाये जाएं तो उनका कोई औचित्य है. हत्या के आरोपियों को ज़मानत मिल गयी, यह आपकी व्यक्तिगत खुशी का अवसर हो सकता है, इसमें आप देशभक्ति को या धर्म को बेमतलब कैसे घसीट सकते हैं? इस पर चाहें तो यह कुतर्क दिया जा सकता है कि हत्या धर्म और देश की रक्षा के लिए ही तो की गई थी.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

'जय श्री राम' का युद्धघोष या ललकार के रूप में उपयोग हालिया ही है. बावजूद इसके कि भगवान राम पर या उनकी जय-जयकार करने पर किसी का कॉपीराइट नहीं है, कुछ लोगों ने यह मान लिया है कि यह नारा उनके हिन्दू होने या 'शक्तिशाली हिन्दू' होने का प्रतीक है. एक राजनीतिक पार्टी विशेष इस अवधारणा का समर्थन करती है. आज जितने भी लोग अपराध करते समय या आपराधिक गतिविधियों के प्रसंग में जब 'जय श्री राम' का नारा लगाते हैं तो उसके पीछे उनका असली उद्देश्य यह दिखाना होता है कि वे न केवल 'शक्तिशाली हिन्दू' हैं बल्कि उस राजनैतिक पार्टी और उसकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व भी करते हैं.

- कहने की ज़रूरत नहीं कि इन लोगों का भगवान राम के आदर्शों से कोई लेना-देना नहीं है. नागरिकता क़ानून को लेकर इतने समय से विरोध हो रहा है. मामला शरणार्थियों को नागरिकता देने से सम्बंधित है. जो लोग दिन-रात भगवान राम की दुहाई देते नहीं थकते, क्या वे जानते हैं इस विषय में स्वयं भगवान राम का क्या आदर्श है? सुन्दरकाण्ड में प्रसंग है, जब विभीषण भगवान राम के पास शरण मांगने आया तो भगवान ने इस पर सुग्रीव की राय जाननी चाही. सुग्रीव ने कहा कि राक्षसों की माया कौन जाने, उन्हें तो वह रावण का जासूस लगता है और उसे बांध देना चाहिए. "जानि न जाई निसाचर माया, कामरूप केहि कारन आया". "भेद हमार लेन सठ आवा, राखिअ बांधि मोहि अस भावा".
- इसके उत्तर में भगवान ने घोषणा की, 'मम पन सरनागत भयहारी'. मेरा प्रण है, शरणागत के भय को हर लेना. भगवान ने आगे कहा, "सरनागत कहुं जे तजहिं निज अनहित अनुमानि, ते नर पांवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि". मतलब, जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आये हुए का त्याग कर देते हैं, वे पामर (क्षुद्र) हैं, पापमय हैं, उन्हें देखने से भी पाप लगता है! भगवान कहते हैं, "जौं सभीत आवा सरनाई, रखिहऊं ताहि प्राण की नाईं". अर्थात, जो भयभीत होकर मेरी शरण में आया है, तो मैं उसे प्राणों की तरह रखूंगा. इस पर प्रसन्न होकर हनुमान जी 'जय कृपाल' कहते हुए विभीषण को लाने चल देते हैं.

और यहां क्या होने जा रहा है? हम अपनी दया को भी धर्म के आधार पर बांटेंगे? अगर आपके सामने दो भूखे प्राणी खड़े हों और आपके पास दोनों को देने के लिए भोजन हो, तो क्या आप उनसे उनका धर्म पूछकर उन्हें भोजन देंगे, और धर्म विशेष के भूखे को भोजन ही नहीं देंगे भले उसके प्राण निकल रहे हों? ये तो मित्रो, भगवान राम के आदर्श नहीं हैं. भगवान को तो करुणानिधान कहते हैं. विभीषण ने भगवान को देखते ही कहा, "त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर". हे दुखियों के दुःख दूर करने वाले और शरणागत को सुख देने वाले श्री रघुवीर, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- भगवान ने स्पष्ट कहा है, "निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा". जो मनुष्य निर्मल स्वभाव का होता है, वही मुझे पाता है. मुझे कपट और छल छिद्र नहीं सुहाते. भगवान राम न तो गगनचुंबी मंदिर बनाने से प्रसन्न होंगे और न बेमतलब 'जय श्री राम' के नारे लगाने से. उनके आदर्शों का अनुसरण करने से प्रसन्न होंगे.
- यहां नागरिकता क़ानून के कानूनी या संवैधानिक पहलुओं पर बात नहीं हो रही है. उस पर अभी सर्वोच्च न्यायलय का फैसला आना शेष है. यहां केवल नैतिकता की बात हो रही है. हमारी करुणा 'सिलेक्टिव' नहीं होनी चाहिए. इस सारे प्रकरण में यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कुछ लोगों को नागरिकता मिलेगी या नहीं. महत्वपूर्ण यह है कि जो भी किया जाये, उससे हमारी नैतिकता को और भगवान राम के नाम पर उनके महान आदर्शों को ठेस नहीं पहुंचनी चाहिए.

जयपुर लिटफ़ेस्ट जैसे साहित्य समारोह में भारतीय भाषायें अल्पसंख्यक क्यों हैं?

- जयपुर लिटरेचर फ़ेस्टिवल संसार का सबसे बड़ा साहित्य समारोह समझा-माना जाता है और उसकी यह कीर्ति अकारण नहीं है. उसके तीन पक्ष हैं. पहला कि वह साहित्य को सिर्फ़ रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य तक सीमित करने के बजाय भाषा में किये गये सभी कर्मों अर्थात् चिंतन, इतिहास, पुरातत्व, सिद्धांत, पत्रकारिता, राजनैतिक,धर्म, दर्शन आदि को शामिल करता है. दूसरा जितनी बड़ी संख्या में उसमें वक्ता संसार भर और भारत से बुलाये जाते हैं उतने कहीं और नहीं. तीसरा कि उसमें श्रोताओं-दर्शकों की संख्या पांच दिनों में लगभग पांच लाख होती है जितनी, जहां तक जानकारी है, किसी और ऐसे समारोह में नहीं आती. चौथा पक्ष यह भी है कि इस समारोह में प्रमुखता उनकी है जो अंग्रेज़ी में बोलते-लिखते हैं. दुर्भाग्य से, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाएं इस समारोह में अल्पसंख्यक ही हैं. अपवाद छोड़कर उनके सत्रों में भीड़ भी नहीं होती.
- इस बार भी बेहद भीड़ थी और समारोह स्थल में जाना और उसके द्वार तक पहुंचना मुश्किल का काम था. चलना बहुत पड़ता है और फिर ज़्यादातर वक़्त किसी भी सत्र में बैठने की जगह नहीं मिलती. इस बार मैंने कई सत्र खड़े होकर ही सुने. खड़े लोगों की संख्या अब तो बैठे हुओं के बराबर होने लगी है. वक्तव्य, बातचीत, बहस आदि के विषयों में बहुत विविधता थी. इस बार तथाकथित दक्षिणपंथियों को अधिक जगह दी गयी और उनमें से एकाध तो सात-आठ सत्रों में मुखर थे. यह भी अलक्षित नहीं जा सकता कि इस बार वाम दृष्टिवाले लोग बहुत कम, लगभग न के बराबर थे. भले उनका राजनैतिक अवमूल्यन हो गया हो, इससे इनकार करना मूर्खता होगी कि बुद्धि, ज्ञान और सृजन के क्षेत्र में इस दृष्टि ने हमें अनेक मूर्धन्य और उल्लेखनीय लोग दिये हैं जो अब भी, विपरीत परिस्थिति में सक्रिय हैं.
- दूसरी ओर, यह भी सही है कि बहुत सारे वक्ता वर्तमान की समीक्षा करते हुए मुखर और निडर होकर बोले. अगर साहित्य और बुद्धि, ज्ञान और सृजन उसके प्रयोक्ताओं को निर्भय न करें तो वह उनको निर्भय कैसे कर सकता है जो उससे प्रभावित या प्रतिकृत होते हैं? ऐसे बड़े समारोह अपनी गहमागहमी और उत्तेजना के बावजूद थकाऊ भी होते हैं. पर बीच-बीच में ऐसे कुछ युवा भी मिलते रहे जो आपके साहित्य से परिचित हैं और उनमें से कई ने मेरे हाल के प्रकाशित कविता संग्रह पढ़ रखे हैं. युवाओं की बड़ी संख्या, जो कुछ दिन तो अपार लगती थी, समारोह को पिकनिक मानकर उसमें आती हैं. उनमें से अधिकांश का अंग्रेज़ी के प्रति आकर्षण अब भक्ति के स्तर पर पहुंच रहा है. उनमें से अधिकांश अपनी मातृभाषा को तजते युवा लगे. समारोह के अंतर्गत जो बड़ी पुस्तकों की दूकान है उसमें अंग्रेज़ी पुस्तकें ही बहुत थीं और वही बिकीं. हिंदी की पुस्तकें एक छोटे से रैक में थीं और उन्हें इस क़दर उलटा-पुलटा गया था कि वे बेतरतीब और अनाकर्षक ही दिख रही थीं. हो सकता है कि रहे हों पर, दुर्भाग्य से, मुझे एक भी ऐसा विदेशी वक्ता नहीं मिला जिसे भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे को लेकर कोई जिज्ञासा हो. भारतीय भाषाओं की इस अदृश्यता को लेकर मेरी ही तरह क्षुब्ध थे, बांग्ला और अंग्रेज़ी के उपन्यासकार कुणाल सेन.

जयपुर में लाठ

- जयपुर में दर्शनीय ऐतिहासिक स्थल कई हैं और जवाहर कला केंद्र जैसी चार्ल्स कोरिया द्वारा आकल्पित इमारत भी. पर हम जैसों के लिए जयपुर का एक अधिकतर अनदेखा-अनजाना स्तंभ, लाट है, कवि-चिंतक-अनुवादक और अप्रतिम कलासंग्राहक मुकुंद लाठ और उनका घर जो आधुनिक कला का एक निजी संग्रहालय है. शायद ही भारत में किसी और व्यक्ति के पास पचास से अधिक वर्षों के दौरान संग्रहीत ऐसी कलाकृतियां हैं जो मुकुंद जी के निजी संग्रह में हैं. हम लोग जब लिटफ़ेस्ट की चिन्ता छोड़कर एक दिन सुबह उनके यहाँ गये तो फ्रेंच कलाविदों का एक दल, विशेष रूप से, उनका संग्रह देखने आया हुआ था। उनके घर का एक बड़ा हिस्सा बहुत ही सुकल्पित कथावीथिका है जिसमें उनके संग्रह का एक बड़ा भाग सुरुचि और समझ से प्रदर्शित है. उनके पास पुस्तकों का भी एक

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

नायाब संग्रह है जो भी इस वीथिका का हिस्सा है. अनेक कक्षों में फैली इस वीथिका में गणेश पाइन, जोगेन चौधरी, परितोष सेन, लक्ष्मा गौड़, जामिनी राय, सनत कर, सोमनाथ होर, नन्दगोपाल, मक़बूल फ़िदा हुसेन, रज़ा, जार्ज कीट आदि की बहुत रुचि से चुनी गयी कलाकृतियां हैं. संचयन मे बंगाल की प्रधानता है क्योंकि मूलतः तो मुकुंद जी कोलकाता के ही हैं.

- मुकुंद जी संस्कृति, भारतीय परम्परा, संगीत, सौंदर्यशास्त्र आदि पर दशकों से बड़े अध्यवसाय से विचार करते रहे हैं. अभी हाल में उनके निबंधो का एक संचयन 'भावन' नाम से रज़ा पुस्तकमाला के अंतर्गत राजकमल प्रकाशन से आया है. वे इन दिनों वेद के हिंदी अनुवाद में लगे हैं. बहुत कम निकलते हैं. घर पर ही काम करते, रोज़ शास्त्रीय गायन करते रहते हैं. उन्होंने बरसों पंडित जसराज से संगीत सीखा है. हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत पर उनका चिंतन वैसे भी अद्वितीय और अतुलनीय है। उनकी विनम्रता, मनोयोग, अध्यवसाय और जिजीविषा सभी अदम्य है। उनक अपनी प्राथमिकताएँ हैं और उन्हें उनसे विरत कर किसी और विषय पर बुलवाना या लिखवाना बहुत कठिन होता है. पर अगर आप उनके चल रहे काम में रुचि लें तो फिर वे सहयोग, उदार होकर, करते हैं. मैंने 'पूर्वग्रह' के ज़माने से उनसे बहुत बार इसी हिकमत का इस्तेमाल कर लिखवाया-बुलवाया है. उनके जैसा सहज और हंसमुख वक्ता हिंदी में दूसरा नहीं है. यह कहने का मन होता है कि जिसने मुकुंद लाठ की कला संपदा नहीं देखी और जो उनसे मिला नहीं उसने जयपुर नहीं देखा. जयपुर सिर्फ़ अतीत वैभव नहीं है और न ही वर्तमान राजस्थानी रंगबिरंगापन: वह मुकुंद लाठ की गहरी विद्वत्ता, कलासंग्रह और सृजनशीलता भी है.

इधर-उधर

- लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों आदि की जीवनियों में मेरी पुरानी दिलचस्पी है और मुझे जब ऐसी कोई जीवनी मिल जाये, ज़रूर खरीद लेता हूं. इस बार जयपुर लिटफ़ेस्ट की दूकान में बेंजामिन मोज़र द्वारा लिखी गयी अमरीकी लेखक-बुद्धिजीवी सूसान सौण्टैग की जीवनी मिली जो 'सौण्टैग: हर लाइफ़' नाम से एलेन लेन ने प्रकाशित की है. नीदरलैण्ड और फ्रांस में रहनेवाले लेखक ने इससे पहले ब्राज़ीली उपन्यासकार क्लेरिन्स लिस्पेक्टर की जीवनी भी लिखी है. एक तरह से वे जीवनीकार-लेखक हैं. बहरहाल, सौण्टैग की जीवनी 820 पृष्ठों की है. उसमें 100 से अधिक पृष्ठों की सन्दर्भसूची है. ऐसी सुशोधित और सुसन्दर्भित जीवनी हिन्दी में शायद एक भी नहीं है. न जाने क्यों सन्दर्भ को अज्ञात या अप्रगट रखने का चलन हमारे यहां इस क़दर है.
- इस जीवनी के मुखड़े के रूप में सौण्टैग के साथ एक प्रश्नोत्तर दिया गया है जो इस प्रकार है:
- प्रश्न: क्या तुम हमेशा सफल होती हो?
- उत्तर: हां, मैं तीस प्रतिशत बार सफल होती हूं.
- प्रश्न: तब तुम हमेशा सफल नहीं होतीं?
- उत्तर: हां, मैं होती हूं. समय के तीस प्रतिशत में सफल होना हमेशा होना है.
- एक और पुस्तक हाथ लगी पास्काल वियनार की. 'दि रोविंग शैडोज़' जो फ्रेंच से अनूदित है और सीगल द्वारा प्रकाशित है. पढ़ने और लिखने पर एक संहिता की तरह पठनीय इस पुस्तक की संरचना सांगीतिक है और उसमें ऐतिहासिक प्रसंगों, पूर्व और पश्चिम की लोकथाओं, मिथकों के अंशों आदि को बहुत ही उदग्र कल्पनाशीलता से गूंथा गया है.
- 'नंगे पांव शिक्षक' शीर्षक छोटे से अध्याय में लिखा गया है. 'एक रहस्यपूर्ण नंगे पांव शिक्षक का उतना ही रहस्यमय उपदेश है. ईश्वर एक अंधेरा है. जब सब प्रकाश चला जाये तो वह अचानक अंधेरा है जो आत्मा में निवेश करता है'. एक ओर अध्याय का एक अंश यों है: 'मैंने धरती की तीर्थ यात्राएं की हैं. अतीत को संचित करने के लिए नहीं बल्कि भूतपूर्व के संकतों के लिए. हम दरिद्र पहेलियां हैं.

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

पहेली वह प्रश्न होती है जो ऐसा उत्तर न्योतती है जिसने उसे रचा है. उत्तर जिसने रचा है बीत चुका. अटकल लगाने वाला जानता है कि उत्तर हमेशा अतीत होता है.'

- एक ओर इन्दराज़ है: 'कला सिर्फ़ पुनर्जन्म जानती है. प्रकृति उद्गम है. कला कभी उस नन्हें प्रस्फुटन से बड़ी नहीं होती जो वसंत में शाखाओं से हलके सफ़ेद कलियों का होता है.'

जयशंकर प्रसाद साहित्य जगत के बुद्ध थे

- कुछ एक शहरों के लिए कहा जा सकता है कि वे एक जगह थमे हैं तो उतने प्रवाहमान भी हैं. बनारस इन्हीं में से एक है. अपनी सांस्कृतिक पहचान, जिसमें उसका भदेसपन शामिल है, के साथ यह आज भी थमा सा लगता है. लेकिन इन तत्वों को जीवंत बनाते हुए वह प्रवाहमान भी है. थमे होने के बीच का यह प्रवाह ही सुरताल और कविता का रास्ता बनाता है. हो सकता है जयशंकर प्रसाद की अदृश्य प्रेरणा यही हो, न हो तो भी पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि बनारस में जन्मे और पूरा जीवन यहीं बिता देने वाले प्रसाद आत्मा से कवि थे.
- जयशंकर प्रसाद भारतेंदु हरिश्चंद्र के अलावा बनारस में पैदा हुए दूसरे ऐसे साहित्यकार हैं जो पूरे हिंदी भाषी भारत में सबसे जानामाना नाम हैं. भारतेंदु की तरह उन्होंने भी साहित्य की विभिन्न विधाओं को एक साथ साधा और नए आयाम दिए. उनका रचना क्षेत्र नाटक, कहानी और कविता लेखन रहा बस अंतर यह है कि भारतेंदु की तरह पत्रकारिता या पत्रकारिक लेखन उन्होंने नहीं किया.
- और इस सबसे भी ऊपर कहीं मृत्यु, दर्द और शोक से सारे जीवन लड़ते और जूझते प्रसाद साहित्य के बुद्ध थे. बुद्ध की तरह ही रोग, शोक और मृत्यु के प्रश्न उन्हें जीवनभर व्यथित और परेशान करते रहे. अगर जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व के मूल तत्वों और रसायनों को टटोला जाए तो कुल जमा ये तीन बातें या कि गुण ही थे, जो उन्हें प्रसाद बनाते थे. जैसे बनारस ज्ञान, भोग और भक्ति का अद्भुत संगम है; प्रसाद ज्ञान, अध्यात्म और देश-भक्ति का संगम थे.
- वैराग्य के रास्ते पर आना प्रसाद के लिए अनायास नहीं था. देश के हालात, पारिवारिक मुश्किलें और संकट जिसमें अपनों की असमय मृत्यु (सत्रह साल की उम्र में मां और बड़े भाई, फिर पिता और पत्नी की मृत्यु) से उपजा भावनात्मक खालीपन भी शामिल था, से जूझते हुए जयशंकर प्रसाद ने पत्नी की मृत्यु के बाद संन्यासियों का बाना ओढ़ लिया था.
- जीवन नश्वर है, देह नश्वर है, साथ चलने और जानेवाला कोई नहीं होता, इस बोध ने उनको संन्यास की तरफ उन्मुख किया पर शायद उन्हें लगता था कि वे बुद्ध के रास्ते पर नहीं चल सकते. आश्रयहीन परिवार, संपत्ति लूटने को तैयार बैठे नाते-रिश्तेदार और अकेली बची विधवा भाभी की जिम्मेदारी उनके सिर पर थी और इनसे मुंह चुराना उनके लिये संभव नहीं हो पाया. संन्यास अपनाने के बाद वे बुद्ध की तरह एक बार घर लौटे तो अपनी असहाय भाभी के अनुरोध को ठुकरा नहीं सके और उनके कहने पर सांसारिकता में लौट आए. हालांकि उनका यह लौटना भी सिर्फ लिखने और देश की खातिर था.
- इसके बाद उन्होंने जो रचा उसमें जनता में जागृति भरने वाले कुछ नाटक और कुछ उपन्यास थे. दुनियावी लोगों के हिसाब से प्रसाद संन्यास त्यागकर लौटे व्यक्ति हो सकते हैं लेकिन उनका रचनाकर्म इसका परिचय देता है कि जिसने संन्यास छोड़ा वह उनका कर्तव्य प्रेरित तन था, मन तो वहीं कहीं अटका रह गया था. संन्यास की गुफाओं में, साधुओं की संगति में, जहां-तहां निरुद्देश्य घूमने के बंजारेपन में. 'ओ चिंता की पहली रेखा', 'आह वेदना मिली विदाई', और 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' इसी मन

THE CORE IAS (A Unit Of Study Learn)
www.thecoreias.com

से उपजे गान हैं. इन रचनाओं में सिर्फ गहरे भाव ही नहीं थे. कर्णप्रियता और शब्दों की मिठास व चयन इन्हें और ऊंचा दर्जा देती है. जैसे -

- 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी, निश्छल प्रेम कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे...'
- संन्यास अपनाने के बाद वे बुद्ध की तरह एक बार घर लौटे तो अपनी असहाय भाभी के अनुरोध को ठुकरा नहीं सके और उनके कहने पर सांसारिकता में लौट आए
- इस रचना के कारण कई आलोचकों ने प्रसाद को पलायनवादी भी कहा. लेकिन एक दूसरे आयाम से देखें तो यह पलायन नहीं था. यह एक ऐसे लोक की कामना थी, जहां दुख नहीं था द्वेष और प्रतिस्पर्धा नहीं थी, मुक्ति थी. यह एक 'आदर्शलोक', एक यूटोपिया की कामना थी. यह दुख, दीनता और गुलामी से रहित एक ऐसे समाज का सपना था जिसकी कल्पना हर लेखक करता है. रवींद्रनाथ टैगोर ने भी तो लिखा था - 'वेयर देयर माइंड इज विदाउट फीयर ...' प्रकट में साफ-साफ न कहते हुए-हुए यह अपने आजाद देश की कामना थी. उसके सपनों को लोगों के दिल में भरना और बचाए रखने की कोशिश थी यह.
- देशप्रेम और देशचिंता प्रसाद की नाटकों के मूल में हमेशा रही. उनके नाटकों की ही अगर बात की जाए तो 'कामना' और घूंट' को छोड़कर सभी नाटकों (इनमें ध्रुवस्वामिनी, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि काफी लोकप्रिय हैं) के केंद्र में देशप्रेम ही था. प्रसाद ने अपने पूरे जीवन-काल में तेरह नाटक लिखे, जिनमें से आठ ऐतिहासिक थे और तीन पौराणिक. नाटकों की विषयवस्तु के रूप में उन्होंने महाभारत की कथाओं से लेकर हर्षवर्धन तक के काल को समेटा. प्रसाद ने पारसी रंगमंच के प्रभाव को ठुकराते हुए युवाओं के लिए अपने देश के अतीत से जुड़ी कथाओं को सामने रखा. यहां न सिर्फ अतीत था बल्कि आज उस अतीत से ली जानेवाली प्रेरणाएं भी शामिल थीं.
- प्रसाद के नाटकों के गीत भी नाटकों में प्रयुक्त होने वाले संवादों की तरह बेहद पुरअसर होते थे. दिल में कहीं गहरे घर कर जानेवाले, उसमें उमंग और उल्लास जगाने वाले. 'अरुण यह मधुमय देश हमारा.' और 'हिमाद्री तुंग—श्रृंग से, प्रबुद्ध-शुद्ध भारती' जैसे गीत इन्हीं खूबियों के चलते इतने वर्षों बाद भी उतने ही प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं. देशभक्ति में पगी ऐसी कालजयी रचनाएं तब तक संभव नहीं हैं जबतक रचनाकार का मन खुद देशमय न हो गया हो. यह एक संन्यासी मन की अंतिम प्रतिबद्धता थी. प्रसाद के नाटकों पर आलोचकों का एक आरोप यह रहा कि इन्हें अभिनीत करना आसान नहीं है. लेकिन इसका सबसे बड़ा जवाब यही है कि ये नाटक दशकों से मंचित हो रहे हैं और यह क्रम आज तक जारी है.

THE CORE IAS
('A unit of just unlearn')
www.thecoreias.com

- प्रसाद के नाटकों पर आलोचकों का एक आरोप यह रहा कि इन्हें अभिनीत करना आसान नहीं है. लेकिन इसका सबसे बड़ा जवाब यही है कि ये नाटक दशकों से मंचित हो रहे हैं और यह क्रम आज तक जारी है

- सीमित अर्थों में राष्ट्र और राष्ट्रवाद को आंकने वाले लोगों के लिए प्रसाद एक राष्ट्रवादी लेखक हो सकते हैं, प्रबल राष्ट्रवादी भी. लेकिन जिस दौर में वे थे उस समय राष्ट्रवाद उस प्रचलित अर्थ में नहीं था जैसा कि आज है. धर्म को भी आज जितने संकीर्ण नजरिए से नहीं देखा जाता था. याद रखने वाली बात है कि उसी दौर में 'गणेश-पूजा' और तमाम धार्मिक उत्सव लोगों को एकत्रित होने, संगठित होने और जागरूक होने के साथ-साथ देश के स्वतंत्रता हासिल करने के अभियान को गति देने का कारक होते थे. ऐसे में राष्ट्रवादी होना और प्रसाद की तरह राष्ट्रवादी होना, उस समय और समाज की पहली जरूरत थी.

- छायावाद के चार स्तंभों में से एक प्रमुख स्तंभ, जयशंकर प्रसाद अपने कहानी लेखन और उपन्यास लेखन में नाटक लेखन से ज्यादा आधुनिक थे. एक कथाकार के रूप में प्रेमचंद के समकालीन होते हुए भी उन्होंने प्रेमचंद की तरह एकरेखीय और आदर्शवादी कहानियां नहीं लिखीं. उनकी कहानियों में द्वन्द, भावनाएं, मनोविज्ञान और मन के भीतर के विचलन सब आकार लेते थे. यह अलग बात है कि कहानीकार के रूप में उन्हें वह उचित प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई. यह त्रासदी हर उस बड़े रचनाकार की है जो एक साथ कई विधाओं में काम करता है. होता यह है कि एक विधा की प्रसिद्धि आपकी दूसरे विधाओं की प्रतिभा को ढांप लेती है. 72 कहानियां लिखनेवाले प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' 1912 में 'इंदु' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुई थी. आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार और 'स्वर्ग के खंडहर' प्रसाद की प्रसिद्ध प्रेम कहानियां हैं, जिनमें वे भावनाओं की सघनता से गुजरते हुए यथार्थ और समस्याओं की तरफ मुड़ते दिखते हैं.
- उपन्यासों की उनकी तिकड़ी (कंकाल, तितली और इरावती) में 'इरावती' वह उपन्यास है जो उनकी मृत्यु के वक़्त अधूरा ही था. मात्र 48 साल की उम्र में (जन्म - 30 जनवरी , 1889 | मृत्यु - 14 जनवरी 1937) इस लेखक ने जो हिंदी साहित्य को सौंपा, वह अतुलनीय ही नहीं है, अभी पूरी तरह से उसका मूल्यांकन तक नहीं हो पाया. इसे एक लेखक के जीवन की घनघोरतम त्रासदी के सिवा और क्या कहा जा सकता है?
- जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा का शिखर 'कामायनी' को माना जा सकता है. इसकी मूल पंक्तियां 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' स्त्री की स्थिति, उसके संघर्ष और उसे आदर देने की कोशिश में आज भी रूपक की तरह इस्तेमाल होती हैं. इस रचना को कवि सुमित्रानंदन पंत ने 'हिंदी का ताजमहल' कहकर मान और गौरव दिया है और जाहिर है कि यह दुर्लभ सम्मान सिर्फ रचना ही नहीं उसके रचनाकार के हिस्से में भी है.

नज़ीर अकबराबादी : जिनके कृष्ण और शिव पर लिखे गए गीत आज भी लोगों की जुबान पर हैं

- ब्रज के इलाकों में घूम आइये. मंदिरों में, गलियों में, घरों में बड़े-बूढ़े जवान, बच्चे और फ़कीर कृष्ण के गीत गाते मिल जाएंगे. ये किसने बनाए? कब बनाए? पहले इन बातों को जानना ज़रूरी नहीं था. क्योंकि फ़र्क नहीं पड़ता था, अब पड़ता है. तो साहिबे-मसनद, जैसा कि होता ही है इन गीतों और कविताओं में कई रचनाएं ऐसी हैं जो एक मुसलमान शायर की जुबान से निकली हैं. जिसका नाम है नज़ीर अकबराबादी. अच्छा अगर बता दिया जाए तो क्या उन गीतों को हटवा देंगे?
- जो नज़ीर अकबराबादी को नहीं जानते, उन्हें बताने का फ़ख़्र बनता है कि वे अमीर ख़ुसरो, मलिक मुहम्मद जायसी या रसखान की परंपरा वाले हैं. मिली-जुली तहज़ीब के सबसे मुकम्मल हस्ताक्षरों में से एक भी. हर मौज़ू पर, हर छोटी-बड़ी बात पर लिखने वाले थे नज़ीर अकबराबादी. '**बंजारानामा**' और 'रोटियां' जैसी कालजयी नज्में रचने वाले थे नज़ीर अकबराबादी.

नज़ीर से जुड़ी बुनियादी बातों की सच्चाई क्या है?

- नज़ीर अकबराबादी का असली नाम वली मुहम्मद और उपनाम 'नज़ीर' था. 'नज़ीर' के साथ उन्होंने 'अकबराबादी' जोड़ लिया. उनकी जन्मतिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है. लेकिन अधिकतर 1735 में उनका जन्म हुआ मानते हैं. उनके क़लाम पर पहले शोधकर्ता प्रोफ़ेसर अब्दुल गफ़ूर शहवाज़ के समय तक नज़ीर की नवासी विलायती बेगम जिंदा थीं. उन्होंने 'ज़िंदगानी बेनज़ीर' के लिए काफ़ी कुछ सामग्री दी. पर जन्म का दिन और महीना उन्हें भी नहीं मालूम था. विकीपीडिया भी ख़ामोश है. पर आगरा के लोग बताते हैं कि

उनका जन्म 1735 में बसंत पंचमी को हुआ था और हर साल उस दिन को उनकी मज़ार पर लोग फूल चढ़ाने आते हैं. गूगल में उस साल का कैलेंडर खंगालें तो तारीख मिलती है 29 जनवरी, 1735.

- अब बात थी जन्मस्थान की. सो यहां भी स्थिति साफ़ नहीं. लोग बंटे हुए हैं. प्रोफेसर शहवाज़, मखमूर अकबराबादी, फ़रतुल्लाह बेग और कई अन्य विद्वान दिल्ली को नज़ीर का पैदाइशी शहर मानते हैं. 'कुल्लियाते नज़ीर' लिखने वाले मौलाना अब्दुलवारी आसी एक साक्षात्कार में कहते हैं, 'नज़ीर शहर देहली (दिल्ली) में 1735 में पैदा हुए. बड़े पुरआशोब (उथल-पुथल से भरे) ज़माने में होश संभाला. 1748 से लेकर 1764 तक दिल्ली पर अहमद शाह अब्दाली के तीन हमले हुए थे. इसलिए नज़ीर अपनी मां और नानी के साथ 22-23 साल की उम्र में तर्के-वतन ((छोड़ना) पर मजबूर हुए और आगरा में मिठाई पुल के पास रहने लगे.'
- दूसरी तरफ़ शेफ़्ता, डॉ गुरमुख राम टंडन और मैकश अकबराबादी जैसे कुछ विद्धान नज़ीर की पैदाइश आगरा में मानते हैं. इसके पीछे उनकी सोच है कि नज़ीर की मां आगरा के किलेदार की बेटी थीं और फिर उनका तख़ल्लुस 'अकबराबादी' (आगरा का दूसरा नाम) था. पर प्रोफ़ेसर शहबाज़ के शोध के आधार पर दिल्ली को उनका जन्मस्थान माना जाता है. यह बात अलग है कि नज़ीर को आगरा से बेइंतिहा मुहब्बत थी. उन्होंने लिखा भी है:

'आशिक कहो, असीर कहो, आगरे का है,
मुल्ला कहो, दबीर (लेखक) कहो, आगरे का है
मुफ़लिस कहो, फ़क़ीर कहो, आगरे का है
शायर कहो, नज़ीर कहो, आगरे का है.'

उनकी मौत को लेकर भी एकराय नहीं है. बकौल प्रोफेसर शहबाज़ जब नज़ीर मरे तो उनकी उम्र नवासी की थी. ख़ुद नज़ीर का अपने पर शेर है.

'ए यार सौ बरस की हुई अपनी उम्र आकर
और झुर्रियां पड़ी हैं सारे बदन के ऊपर'.

- पहले 90-95 की उम्र के आदमी को 100 बरस का मान लिया जाता था. मिर्ज़ा फ़रतुल्लाह बेग ने नज़ीर की मृत्यु का दिन 26 सफर 1246 हिजरी यानी एक अगस्त 1830 माना है. वहीं इंतज़ाम उल्लाह शहाबी इसे 16 अगस्त 1830 मानते हैं. 'नज़ीर ग्रंथावली' के संपादक डॉ नज़ीर मुहम्मद लिखते हैं, '1827 में उन्हें लकवा हुआ और तीन साल बाद एक अगस्त 1830 को इनका इंतकाल हो गया. जनाज़े की नमाज़ शिया और सुन्नियों ने अपने-अपने ढंग से पढ़ी. जनाज़े की चादर हिंदू भी ले गए. घर के पेड़ों की ही छाया में नज़ीर को दफ़नाकर मज़ार बना दिया गया.'

THE CORE IAS
(A Unit of Vajiram & Ravi)
www.thecoreias.com

गंगा जमुना तहज़ीब के दस्तखत

- उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की 'नज़ीर ग्रंथावली' में ज़िक्र है कि नज़ीर सरल स्वभाव के थे. जब घर से निकलते तो अक्सर लोग रास्ता रोककर खड़े हो जाते. उनकी घोड़ी ऐसी सध गयी थी कि जहां लोगों ने सलाम किया वहीं खड़ी हो जाती. सब कहते मियां पहले कविता सुनाएं, तब आगे जाने देंगे. नज़ीर वहीं कविता बनाते और घंटों सुनाते. फेरी लगाकर माल बेचने वाले उनसे कविताएं लिखवा ले जाते और उन्हें गली-कूचों में गा-गाकर अपना माल बेचते. ककड़ी बेचने वाला पीछे पड़ा तो 'आगरे की ककड़ी' नामक रचना दी.

'क्या ख़ूब नर्मोनाज़ुक इस आगरे की ककड़ी.
और जिसमें ख़ासकर फिर, इस्कंद की ककड़ी.'

भीख मांगने वाले जोगी ने निवेदन किया तो उन्होंने 'कन्हैया का बालपन' कविता कही और वह कड़ा बजाकर उसे गा-गाकर भीख मांगने लगा

'क्या-क्या कहूं किशन कन्हैया का बालपन
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन.'
नज़ीर ने कृष्ण चरित के साथ रासलीला का वर्णन किया है, तो कृष्ण के बड़े भाई बलदेव पर 'बालदेव जी का मेला' कविता लिखी. और तो और 'तारीफ़ भैरों की' भी लिखी है:
'तेरी सरन गही है कर तू निहाल भैरों
ए पर्तपाल देवत मदमस्त काल भैरों.'

- होली को राष्ट्रीय त्यौहार मानने वाले नज़ीर ने इस पर्व पर 20 से अधिक कविताएं लिखी हैं. आगरा शहर की हर गली में होली किस तरह से खेली जाती है इसका वर्णन उन्होंने किया है. इसके अलावा, दिवाली, राखी, बसंत, कंस का मेला, लाल जगधर का मेला जैसे पर्वों पर भी उन्होंने जमकर लिखा. दुर्गा की आरती, हरी का स्मरण और भगवान् के अवतारों का जगह-जगह बयान है उनकी कविताओं में. गुरु नानक देव पर उनकी कविता प्रसिद्ध है. पर जब नज़ीर अकबराबादी कृष्ण की तारीफ़ में लिखते हैं तो उन्हें सबका ख़ुदा बताते हैं:

'तू सबका ख़ुदा, सब तुझ पे फ़िदा, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
हे कृष्ण कन्हैया, नंद लला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
तालिब है तेरी रहमत का, बन्दए नाचीज़ नज़ीर तेरा
तू बहरे करम है नंदलला, ऐ सल्ले अला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी.'
एक कविता में नज़ीर कृष्ण पर लिखते हैं:
'यह लीला है उस नंदललन की, मनमोहन जसुमत छैया की
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जय बोलो किशन कन्हैया की.'
नज़ीर रास्ते चलते हुए नज्में कहा करते थे. न कहीं लिखा, न जमा किया. हां, लोग, जिनमें भिखारी और फेरी वालों से लेकर कोठे वालियां तक थीं, उनके कलामों को दिल में संजोकर रखते थे और आज भी उन्हें ही गाते हैं

जनकवि नज़ीर

- नज़ीर अकबराबादी की ज़्यादातर शायरी उर्दू में है. अठ्ठारहवीं सदी का वह ऐसा दौर था जब मुल्क में फ़ारसी की जगह उर्दू ले रही थी. ऐसा इसलिए कि फ़ारस यानी ईरान के राजा नादिर शाह के आक्रमण (सन 1739) ने हिंदुस्तान को हिलाकर रख दिया था. लोग जुबां से भी नफ़रत करने लगे थे. तब मजहर, सौदा, दर्द और मीर तकी मीर जैसे नाम-चीन शायर हुए जिन्होंने उर्दू में क़लाम पढ़े. बाद में फ़ारसी यूं बेगानी हुई कि आने वाले वक्त में ग़ालिब ने भी इसे छोड़कर उर्दू अपनाई.
- प्रोफेसर शहबाज़ लिखते हैं कि जब नज़ीर दिल्ली से आगरा आये तो उस वक़्त मीर तकी मीर की धाक थी. किसी मुशायरे में नज़ीर ने मीर की मौजूदगी में उनकी ही तर्ज़ पर एक ग़ज़ल कही जिसका मिसरा कुछ यूं था:

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

'नज़र पड़ा एक बुत परीवश निराली सजधज नयी अदा का
जो उम्र देखी तो दस बरस की ये कहर आफत ग़ज़ब ख़ुदा का.'

- हालांकि अब 10 बरस की बच्ची के लिए कोई ऐसी बात कहे तो लंपट कहलायेगा पर वह दौर अलग था. कम उम्र की बच्चियों की शादी होना तब आम बात थी. खैर, जब मीर ने यह ग़ज़ल सुनी, तो उन्होंने नज़ीर को अपने पास बुलाया और शाबाशी दी. इस वाकये के बाद नज़ीर आगरा में बतौर शायर प्रसिद्ध हो गए.
- शोहरत तो मिली पर पेट से गीला कपड़ा बांधकर सोने के हालात रहे. उस दौर में शाहों और नवाबों की शान में लिखकर शायरों के गुज़ारे होते थे. नज़ीर ने ऐसा कोई काम नहीं किया. जो कुछ भी लिखा जनता के लिए लिखा. रियाया की बात कही. बताते हैं कि लखनऊ के नवाब सआदत अली खां का बुलावा और पैसे भी उन्होंने ने यह कहकर ठुकरा दिए थे कि वे महलों में नहीं झोपडी में खुश हैं. नज़ीर ने समाज पर लिखा, उसके दर्द पर लिखा. मसलन 'आदमी' में वे कहते हैं:

'यां आदमी पे जान वारे है आदमी
और आदमी पे तेग़ (तलवार) को मारे है आदमी

पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी
और सुन के दौड़ता है सो है वो भी आदमी'

- रोटी पर भी उनकी कई नज्में हैं तो कबूतर, रीछ (भालू), गिलहरी और बुलबुल भी उनके विषय रहे.
- अब कोई ऐसे विषयों पर शायरी करेगा तो 'चलताऊ शायर' क़रार दिया जायेगा. ऐसा ही हुआ. उन्होंने मीर की तरह इश्क़ और दर्द पर नहीं लिखा. ग़ालिब की तरह मुहब्बत, शराब और ज़िंदगी के फ़लसफ़े की भी बात नहीं की. पर यह भी तय है कि आत्मसम्मान उनमें ग़ालिब से कम नहीं था. और ग़ालिब के जितना न सही पर उनकी सूफ़ियाना नज़्में जैसे 'बंजारानामा' या 'दुनिया धोखे की टट्टी है' या 'मौत की फ़िलासफ़ी' इस जीवन को निर्लिप्त होकर देखने की बात करती हैं. कोई नया फ़लसफ़ा उन्होंने ईजाद नहीं किया था. हालांकि अली सरदार जाफ़री के मुताबिक़ ग़ालिब की शायरी में भी नया दृष्टिकोण नहीं है. लेकिन नज़ीर की शायरी आज भी 'इलीट' वर्ग को नहीं छूती इसलिए ढाई सदी से हाशिये पर रख छोड़ी गयी है.

ग़ालिब से नज़ीर का क्या राब्ता था?

- अब जब बात नज़ीर (1735-1830) और ग़ालिब(1797-1869) ही की हो रही है तो कुछ बातें और हो जाएं. दोनों दिग्गजों के बीच ज़बरदस्त इतेफ़ाक हैं. दिल्ली में जन्मे नज़ीर आगरा बस गए थे. आगरा में पैदा हुए ग़ालिब दिल्ली में जमे रहे. मीर तकी मीर दोनों से वाबस्ता (जुड़े) थे. दोनों ही के पिता सिपहसालार थे. ग़ालिब के वालिद को अलवर के राजा के यहां 60 घोड़ों की रिसालदारी मिली हुई थी. बताते हैं कि नज़ीर के वालिद भी कुछ समय के लिए अलवर के किसी दूसरे राजा के यहां भर्ती रहे.
- आख़िरी बात पर आपमें से बहुत चौंक जाएंगे. मिर्ज़ा ग़ालिब की शुरुआती तालीम नज़ीर अकबराबादी की शागिर्दी में हुई थी! इस बात न ज़िक्र न तो कहीं ग़ालिब ने किया है और न उन पर लिखने वाले बाद वक्तों के लेखकों ने. बतौर संपादक अली सरदार जाफ़री भी 'दीवाने-ग़ालिब' में इस बात का ज़िक्र नहीं करते. पर प्रोफ़ेसर शहबाज़ के हवाले से 'नज़ीर ग्रंथावली में ज़िक्र है, 'उस समय आगरा में ख़लीफा मुअज़्ज़म और मियां नज़ीर दो ही-मुमताज़ मुल्लाओं में थे. ग़ालिब को इन्हीं दो की तरफ़ जाना पड़ा. चर्चित लेखक कुतुबुद्दीन बातिन ने भी अपनी किताब गुलिस्ताने बेखिज़ां में मिर्ज़ा ग़ालिब को नज़ीर का चेला बताया है'.
- कुल मिलाकर नज़ीर अकबराबादी उस सदी के इकलौते शायर लगते हैं जो आम समाज और निचले तबके के लोगों की बात करते हैं. वे हिंदी आधुनिक काल के शुरुआती कवि भी कहे जा सकते हैं. नज़ीर उस दौर के इकलौते नुमाइंदे लगते हैं जो 'राग दरबारी' नहीं गाते बल्कि कदमताल करते हुए किसी भिखारी, साधु, ठेले वाले या किसी बच्चे के साथ अपने गीत गाते हुए नज़र आते हैं. ये लोग शायद थक जायें पर नज़ीर अगले मोड़ पर खड़े हुए किसी हारे हुए के साथ नज़र आने को बेक़रार हैं.
- लेख को नज़ीर की उन लाइनों से खत्म करते हैं जिनका आखिरी हिस्सा सावन में समूचे उत्तर भारत में गूंजता है.
- *जब आसा तिश्ना दूर हुई, और आई गत सन्तोख भरी।*
  सब चैन हुए आनन्द हुए, बम शंकर बोलो हरी हरी.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

कमलेश्वर की कलम पानी जैसी थी, वे उसे जिस विधा में रख देते वह उसी के रंग में ढल जाती थी

- मनोहर श्याम जोशी ने अपने विभिन्न विधाओं में समानांतर आवागमन पर किए गए सवालों पर बड़े स्पष्ट लहजे में कभी कहा था, 'जो भी विधा मुझे अपने पास बुलाएगी, मैं वहां चला जाऊंगा...' हालांकि उनसे भी ज्यादा कहीं यह बात कमलेश्वर के लेखन पर लागू होती दिखाई देती है. वे मनोहर श्याम जोशी से भी कहीं अधिक भूमिकाओं में अपने पूरे जीवन काल में दिखते हैं.
- कहानीकार और उपन्यासकार के अतिरिक्त सम्पादन, पत्रकारिता, अनुवाद और फिल्म पटकथा और संवाद लेखन कमलेश्वर के व्यक्तित्व के बिलकुल अलग-अलग आयाम रहे, जिन्हें एक में मिलाकर नहीं देखा जा सकता. यूं कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की कलम से निकलने वाले शब्दों का रंग स्याह न होकर पानी जैसा था, जिस भी विधा को वह छूती, उसी के रंग और लहजे में खुद को

ढाल भी लेती. फिर भी उनका कमलेश्वरी तर्ज उनके हर लिखे में दस्तखत की तरह मौजूद और मौजूं दिखता है. यह कमलेश्वर का स्थायी सिग्नेचर टोन है, सामाजिक विषमताओं का अंकन और उसके प्रति एक मूलभूत विद्रोह वाला.

- मध्यवर्गीय जीवन की विषमताएं और उस सब में भी कहीं प्रमुख रूप से स्त्री जीवन का एकांत और उसके दुख की कहानी उपन्यास लेखन के साथ-साथ कमलेश्वर के फिल्म पटकथा लेखन का भी हिस्सा रहे. तलाश, मांस का दरिया, राजा निरबंसिया और देवा की मां जैसी उनकी अनेक कहानियां स्त्री जीवन और उसके दुखों की बहुत गहराई से पड़ताल करती हैं. उनके उपन्यासों पर आधारित फिल्में – 'आंधी' (काली आंधी), 'मौसम' (आगामी अतीत) और कहानी पर आधारित 'फिर भी' (तलाश) इसके प्रमुख उदाहरण हैं. पर समय बीतने के साथ इनके जैसी ही 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा' और 'छोटी सी बात' जैसी सार्थक फिल्मों से निकलकर कमलेश्वर 'साजन की सहेली', और 'सौतन की बेटी' जैसी घोर कमर्शियल और दिशाहीन फिल्मों के चक्कर में आ फंसते हैं.
- वैसे एक अर्थ में यह कोई गिरावट जैसी बात भी नहीं थी. कमलेश्वर तब के कमर्शियल फिल्मों के ख्यात पटकथा और संवाद लेखक हो चले थे पर कला और विषय की दृष्टि से देखें तो यह घटना समाज और अच्छी फिल्मों के दर्शकों के लिए एक गंभीर क्षति थी. यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनकी कोई भी और कैसी भी फिल्म बगैर किसी सामाजिक सन्देश के ख़त्म नहीं होती, और औरत वहां चाहे जिस रूप में भी आई हो, उसका एक उजला पक्ष उसमें कहीं न कहीं दबा दिख ही जाता है.
- अपनी कहानियों में कमलेश्वर बहुत सहज दिखते हैं. बिलकुल स्पष्ट संदेशों के साथ. नई कहानी आंदोलन की अपनी त्रयी (राजेंद्र यादव और मोहन राकेश के साथ) में वे सबसे सहज हैं. यह उनकी कहानी के नामों से भी समझ में आ जाता है. मसलन 'वापसी', 'देवा की मां' या 'नेली झील'. यहां नाम में चमत्कार भरने की कोशिश नहीं है. आम लोगों के लिए उनकी भाषा में ही कहानी कह देने की कला ही वह वजह रही कि 'रजा निरबंसिया' के प्रकाशित होते ही पाठकों ने उसे हाथों-हाथ लिया.
- ठीक इसके विपरीत एक टीवी पत्रकार और इस माध्यम के लेखक के रूप में वे हर जगह अपनी विशिष्टता बनाए और बचाए रहते हैं, और अपनी वह जुदा पहचान भी... 'परिक्रमा' और 'बंद फाइलें' उनके द्वारा लिखित ऐसे कार्यक्रम थे जो तब की टीवी पत्रकारिता के क्षेत्र में एक नया इतिहास लिखते हैं. परिक्रमा ने लगातार सात साल तक दूरदर्शन पर अपना वर्चस्व बनाए रखा. यह अपने तरह की एक अकेली घटना थी. धार्मिक और ऐतिहासिक धारावाहिकों के बाद यह अकेला धारवाहिक था, जिसका हिंदी भाषी प्रांतों की जनता बेसब्री से इंतजार करती थी.
- कमलेश्वर ने अपने पूरे जीवन काल में 300 से भी अधिक कहानियां लिखीं और कुल 13 उपन्यास. वे अपनी पीढ़ी के अकेले ऐसे लेखक रहे हैं, जो अपने अंतिम समय तक लेखन को नहीं छोड़ते, या यूं कहें कि लेखन उनका पीछा नहीं छोड़ता. जीवन के अंतिम कुछ वर्षों में लिखा गया उनका उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' लोकप्रियता के सारे आयाम पीछे छोड़ देता है, लगातार आने वाले उसके छह संस्करण इसी बात का प्रमाण थे.
- कितने पाकिस्तान के लिए कमलेश्वर को साहित्य अकादमी सम्मान भी प्राप्त हुआ. हालांकि इस पर कुर्तुल एन हैदर के 'आग का दरिया' की छाया स्पष्ट दिखती है. यहां आकार-प्रकार ही नहीं विषयवस्तु और कथ्य व शिल्प में भी बहुत ज्यादा सामंजस्य दिखाई देता है. हालांकि इसे नक़ल जैसा न मानकर शिल्प और कथ्य के अनुकरण जैसा कुछ कहा जा सकता है. दरअसल कोई भी जिम्मेदार लेखक अपने लिए विषय वस्तु के रूप में वर्तमान समय और समाज और उसकी विसंगतियों की और ही रुख करेगा. कमलेश्वर जैसा क्रांतिकारी लेखक तो सबसे पहले. इसलिए इसे शिल्प और शैली का पारम्परिक दुहराव तो कह सकते हैं पर नक़ल नहीं और फिर कमलेश्वर उम्र और जीवन के जिस पड़ाव पर उस वक़्त थे, वहां यह बात असंभव जैसी ही जान पड़ती है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- 'विहान', 'इंगित', 'नयी कहानियां', 'सारिका', 'कथा यात्रा', 'श्री वर्ष' और 'गंगा' जैसी पत्रिकाएं कमलेश्वर के सम्पादक रूप की घोषणा पत्र मानी जा सकती हैं. इनमें भी खासकर नई कहानियां और सारिका का सम्पादन. कमलेश्वर ने जिस नए कहानी आन्दोलन का सूत्रपात किया, वह था सारिका पत्रिका के द्वारा चलाया गया 'समानांतर कहानी आन्दोलन'. सारिका ने ही पहली बार दलित लेखन को साहित्य जगत में जगह दी, इसमें भी मराठी के दलित लेखन को. यह जैसे समय की नब्ज पकड़ना था.
- बतौर सम्पादक कमलेश्वर की प्राथमिकता नए लेखकों को मंच देना और उनपर भरोसा करना भी रहा. अपने संघर्ष के दिनों को याद करते हुए, कमलेश्वर ने लेखकों के लिए वहां एक कॉलम शुरू किया था - 'गर्दिश के दिन'. इसके केंद्र में खुद कमलेश्वर के अपने गर्दिश के दिनों की स्मृतियां नींव की तरह थी. मतलब मैनपुरी से इलाहबाद और इलाहाबाद के बाद दिल्ली के गर्दिश वाले दिनों की स्मृतियां. उनकी समकालीन रहीं मन्नू भंडारी एक संस्मरण में बताती हैं कि कमलेश्वर तब पैसे एडवांस लेकर कहानी और उपन्यास लिखते थे. एक ही कहानी के लिए कई बार एक से ज्यादा जगहों से पैसे भी उठा लेते थे. और एकाध बार उसी कहानी में थोड़ी हेर-फेर या फिर शीर्षक के बदलाव के साथ दूसरी जगह भेज देते थे. इस सबके पीछे उनकी कुछ मजबूरियां भी रही होंगी और शायद इसी वजह से वे 'गर्दिश के दिन' और सारिका में लिखने वाले नए लेखकों को कई बार एडवांस पैसे दे देते थे.
- कमलेश्वर अपने उसूलों के इतने पक्के थे कि जब आपातकाल के दौर में उनसे यह कहा गया कि वे छपने से पूर्व पत्रिका सरकारी अफसरों को दिखाएं तो उन्होंने सारिका के पन्नों को पूरी तरह काला करके अपने अंदाज में विरोध जताना शुरू कर दिया था. यह विरोधी तेवर और इसके साथ विरोधी पक्ष के प्रति खुला मन उनके स्वभाव का मूल हिस्सा था. यह दिखाने वाला एक वाकया तब का है जब वे दूरदर्शन के महानिदेशक बनने जा रहे थे. अभी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हुई थी लेकिन इस बीच उनकी मुलाक़ात इंदिरा गांधी से हो गई. इस मुलाकात का सबसे दिलचस्प पहलू यह था कि तब कमलेश्वर ने बहुत दृढ़ता और ढीठता से उन्हें यह बताया था कि कैसे उन्होंने आपातकाल के खिलाफ 'काली आंधी' कहानी लिखी थी. और यह भी कि उन्होंने अपने सम्पादकीय और अन्य लेखों में आपातकाल का जमकर विरोध किया था. बताते हैं कि इंदिरा गांधी उनकी इस साफगोई से बहुत प्रभावित हुई थीं. तत्कालीन प्रधानमंत्री को इससे कोई आपत्ति नहीं थी और बकौल कमलेश्वर इंदिरा गांधी ने उनके कहा था कि वे दूरदर्शन पर भी उनके मतभेद को सुनना चाहेंगी.
- यह कमलेश्वर की जिंदगी का एक अलग ही वाकया है. हालांकि इस मामले में उनकी काबिलियत जितनी भी काम आई हो, यह इंदिरा गांधी का बड़प्पन ही था कि उन्हें अपने एक विरोधी के इतने महत्वपूर्ण पद पर नियुक्ति से कोई आपत्ति नहीं थी. हालांकि इससे पहले तक अपनी इसी बेबाकी और विद्रोही स्वभाव के कारण कमलेश्वर कहीं भी ठीक तरह से टिक नहीं पाते थे और एक आवारगी उनके जीवन का जरूरी हिस्सा बनी रही. इन्हीं यातना के दिनों को उन्होंने अपने संस्मरणों 'खंडित यात्राएं', 'जलती हुई नदी', 'यादों के चिराग' में खूब भीगे मन से लिखा है. कमलेश्वर को लेकर चाहे जितनी कहानियां और विवाद साहित्य जगत में और उससे बाहर चलते आ रहे हों, पर साहित्य के लिए उनके समर्पण, उनके अनुराग और महत्वपूर्ण योगदान से कोई इनकार नहीं कर सकता.

कृष्णा सोबती : जिनका समूचा साहित्य साधारणता की महिमा का इतिहास है

- 'देखिये, अधेड़ लेखक अपनी खोई हुई तन्दुरुस्ती ढूंढ रहे हैं. सुबह की सैर में, कुतुबखानों में या मयख़ानों में. क्या करें, लेखकों और उनकी रचनाओं का बीमा नहीं होता. क्योंकि लेखक संपूर्ण लेखक नहीं होता. उसका मुख्य धंधा कुछ और होता है. अधिकतर बचे-खुचे समय को ही वह लेखन में बुनता है. कर्मकांड से जो भी कर ले. आख़िर किसका समय टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित नहीं?' ऐसा तीख़ा व्यंग करनेवाली कृष्णा सोबती बचे-खुचे समय में या कि साहित्यकार नहीं थी. उन्होंने असाधारण रूप से कई जोखिम उठाकर पर पूरी

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

गरिमा और उसके साथ, स्वाभिमान को किसी भी समझौते से विरत रखकर, एक लेखकीय जीवन जिया. अपने मूलस्थान, हवेली और जमीन से देश को बंटवारे के कारण विस्थापित उन्होंने साहित्य को ही अपना देश, अपना घर बनाया. भौतिक घर तो उन्होंने कई बदले पर साहित्य का घर उनका स्थायी आवास रहा. उनके ही एक पद का इस्तेमाल कर कहा जा सकता है कि उनका ज़मीर हमेशा रौशन रहा और उसका दांव ठीक पड़ता है या ग़लत इसकी चिंता उन्होंने कभी नहीं की. उनका यह आवास 'शब्दों के आलोक' से और कभी सुस्त न होनेवाले ज़मीर से रोशन रहा.

- हिंदी साहित्य में अगर कोई साधारणता की महिमा का इतिहास लिखेगा तो उसमें निश्चय ही कृष्णा सोबती का नाम बेहद दीप्ति के साथ होगा क्योंकि उनका समूचा साहित्य साधारण की लगभग पवित्र और अदम्य आभा को चरितार्थ करता रहा है. यह पवित्रता किसी वैभव-ऐश्वर्य से नहीं सहज गरिमा, ऐन्द्रियता, अपार लालित्य से आयी है और उसमें अध्यात्म और ऐन्द्रियता का द्वैत अतिक्रमित हो जाता है. जीवन, मानवीय संबंधों, उसकी विडम्बनाओं और नियति को लेकर कृष्णा जी की दृष्टि विराट्,अपने सत्व और मर्म में महाकाव्यात्मक थी पर उसका केन्द्र साधारण की महिमा, विशालता थी. उनके चरित्र, साधारण लोग, इतिहास या पुराण से नहीं अपने अनिवार्य जीवन-संघर्ष से जो अमलिन नायकत्व अर्जित करते थे उसकी भंगुरता से जितना कृष्णा जी अवगत थीं उतना ही वे स्वयं. गंवाने की पीड़ा, बिछोह का अवसाद, विस्थापन की भीषणता उनकी जिजीविषा को कभी अवरुद्ध नहीं कर पायी.
- कृष्णा जी ने मेरे बारे में एक लंबे संस्मरण में मेरी 'साहित्य और कलाओं के स्वतंत्र साक्ष्य पर... आस्था' का ज़िक्र किया था, बरसों पहले. वे स्वयं अपने समय और समाज का, उसकी उथल-पुथल और अन्तर्धाराओं का हिस्सेदार गवाह रहीं. उनका साहित्य 'पक्षपाती तटस्थता' से लिखा गया है जिसमें जितनी संसार की उतनी ही आत्म की भी चीरफाड़ है. वे इतिहास नहीं, 'दूसरा इतिहास' लिखती रहीं. ऐसा दूसरा इतिहास जिसमें साधारण लोगों की संघर्ष-गाथा है, अपने सारे अन्तर्विरोधों, लालित्य और मानवीयता के समेत जो इतिहास में प्रायः नहीं होती.

नागरिक-लेखक

- कृष्णा सोबती अपने नागरिक-लेखक होने पर हमेशा इसरार करती थीं. इसका आशय ऐसा लेखक होना था जो साहित्य और उससे बाहर समाज में अपनी नागरिकता को पूरे संवैधानिक अधिकार और मर्यादाओं के साथ विन्यस्त करें. उनके लिए नागरिकता का अर्थ अपनी स्वतंत्रता और न्यायबुद्धि का ज़िम्मेदारी से,संवेदनशीलता और जवाबदेही से, पर-पीड़ाचेतना और दूसरों के एहतराम से, सामाजिकता और व्यक्ति की गरिमा के भाव से निर्वाह था. एक तरह से उन्होंने अपने समय और समाज का नागरिक चैतन्य और अन्तःकरण हो सकना साहित्य और लेखक की अनिवार्य ज़िम्मेदारी माना. उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'क़िस्सा कोताह यह कि हमारे समय को लिखने का प्रमाण किसी एक वर्ग या समुदाय के चालू मुहावरे को नहीं. वहां किसी एकनिष्ठ दृष्टि का आतंक नहीं. बल्कि साहित्य संसार की समृद्ध और जटिल बहुलता है. कोई नहीं कह सकता कि हमारे समय को लिखने का प्रामाणिक एकाधिकार किसी एक धर्म, मत या राजनीतिक विचारधारा को प्राप्त है.' उनके साहित्य का अटल विश्वास था- "मनुष्य के लिए ज़रूरी है कि वह अपने समय को वह अपने समय को खंडित न होने दे. इसके बिना साहित्य-संसार अपनी समग्रता का कोई स्वप्न तक नहीं देख सकता. मनुष्यता साहित्य के माध्यम से ही समयातीत है, अनन्त है, अटूट है.'
- कृष्णा जी की नागरिकता का एक पक्ष उनका अपने समानधर्माओं के काम में लगातार दिलचस्पी लेना और उनके बहुत रोचक संस्मरण सामने लाना भी था. वे इस बहाने उनका अनूठा आकलन भी कर देती थीं. उन्होंने अज्ञेय, नेमिचन्द्र जैन, उपेन्द्रनाथ अश्क, मंटो,

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

उमाशंकर जोशी, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश्वर से लेकर सत्येन कुमार,मंजूर एहतेशाम, सौमित्र मोहन, स्वदेश दीपक, नासिरा शर्मा आदि अनेक लेखकों पर लिखा. 'हम हशमत' शीर्षक से इसके तीन खंड निकल चुके हैं और चौथा अभी आया है. उन्होंने अपने लेखक मित्र कृष्ण बलदेव वैद से एक लम्बा संवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया और कवि-आलोचक गजानन माधव मुक्तिबोध पर एक पूरी पुस्तक लिखी. यह पुस्तक तब लिखी और प्रकाशित हुई जब वे 90 की आयु पार कर चुकी थीं. कृष्णा जी ने साहित्य के हिन्दी परिसर में न सिर्फ़ विचरण किया बल्कि कई महत्वपूर्ण अर्थों में उसे बचाने-ढालने की सार्थक कोशिश भी की.

- इसी नागरिकता का एक और पक्ष उनकी अपार उदारता थी. उनसे बेहतर मेज़बान हिन्दी का कोई दूसरा लेखक हम नहीं जानते. लेकिन यह उदारता सिर्फ़ लेखकों-कलाकारों तक सीमित न थी, इसमें अनेक साधारण लोग भी आते थे. उनकी उदारता की कादम्बिनी में नहाये लोगों की संख्या बहुत है. इसी उदारता और दूसरों की मदद करने की उनकी अपार आकांक्षा के रहते उन्होंने रज़ा फ़ाउण्डेशन को पहले एक करोड़ रुपये और फिर ज्ञानपीठ पुरस्कार की 11 लाख रुपये की राशि दी थी, साहित्य और भाषा के संवर्द्धन के उद्देश्य से. कृष्णा सोबती अपनी दुखद मृत्यु तक अपनी सिसृक्षा, उदारता और गरिमा में अडिग रहीं.

शब्दों का आलोक

- कृष्णा सोबती अपनी भारतीय अस्मिता और नागरिकता के बारे में हमेशा सजग रहीं. उन्होंने स्पष्ट कहा- 'लोकतांत्रिक भारत का नागरिक होने के नाते में अपने होने में न सिर्फ़ हिन्दू हूं- न मुसलमान, न ईसाई, न सिख, न पारसी. मुझमें, मेरे अस्तित्व और चेतना से जुड़े हैं लोकतांत्रिक देश के मूल्य और सिद्धान्त भी जो मुझमें भारतीय होने का अहसास जगाते हैं. एक स्वस्थ समाज की पहचान उसके इतिहास, संस्कृति और साहित्य से होती है. परंपरा और परिवर्तनों के फलस्वरूप उन पुराने की पड़ताल से भी उभरती है जो रूढ़ियों और परिवर्तनों के फलस्वरूप जनमानस की सोच में लगातार बने रहते हैं और उनके स्वभाव, रूचि और सोच के अटूट अंग हो जाते हैं. भारत जैसे लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष देश में यही मूल्य हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं. .... ऐसे में धर्म, सम्प्रदाय, जाति और हिन्दुत्व के नाम पर आक्रामक और हिंसात्मक संस्कार को उभारना, उसे राष्ट्रवाद का नाम देना, धर्म से नत्थी करना देश, समाज और नागरिक संहिता के विरुद्ध है. ... राजनीतिक दंगल में मर्यादा पुरुषोत्तम जैसे मितभाषी नायक को खींचना भी भारतीय भारतीय संस्कार के विरुद्ध है. भूमंडलीकरण के इस युग में राष्ट्रीय उत्थान के लिए ऐसे अनेक कार्यक्रम और योजनाएं हैं जो बाबरी मसजिद के ध्वंस और गुजरात कांड के नाम पर की गयी राजनीति में कहीं ज़्यादा ज़रूरी और महत्वपूर्ण हैं.'
- कृष्णा जी की यथार्थ की पकड़ और समझ असाधारण थी. उन्होंने एक बार अपनी कृति 'यारों के यार' पर हुए विवाद के सिलसिले में कहा था- 'गालियां भी भाषायी संस्कृति और सम्याचार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं. मुझे नहीं मालूम कि इसके इस्तेमाल पर हमें इतना नाक-मुंह क्यों सिकोड़ना चाहिये. गालियां समाज के विद्रूप और विसंगतियों को ही प्रगट करती हैं. गालियों की अपनी सत्ता है. हिंसा, विरोध, घृणा, धिक्कार, रोष, तिलमिलाहट या उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ़ अपने घावों को खोल देने को ही कर्कश सटीक आवाजें इंसानी सहनशक्ति को फाड़कर फूट पड़ी होंगी. हिंसा-प्रतिहिंसा को उभारती छोटी-बड़ी वज़नी गालियां अपने भाषायी अधिकार से विश्व की तमाम भाषाओं में अपनी जगह सुरक्षित किये हुए हैं. उन्हें किसी भी संहिता के अनुसार मानवीय शब्दावली से बाहर नहीं किया जा सकता.'
- भाषा की शुद्धता के प्रसंग में उन्होंने इस पर इसरार किया कि 'नागरी भाषा किसी की बपौती नहीं. उसका तामझाम सिर्फ़ कुर्सीनशीनी नहीं. सिर्फ़ अमलदारी नहीं. सिर्फ़ पुरोहिती नहीं. हिंदी संस्कृत महारानी की पुरानी धोती ही नहीं. यह अपनी जन्मजात

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

सामर्थ्य में जीवन्त भाषा है। इसलिए नहीं कि वह अभिजात की भाषा है. इसलिए कि वह जनभाषा है. एक साथ धनियों की, ग़रीबों की. खेतिहर किसानों की. मजदूरों की. पिछड़ों की.'

कृष्णा सोबती: लोकतंत्र की हिफाजत में प्रतिरोध की एक बुलंद आवाज

- साहित्य-संस्कृति के इतिहास ने कृष्णा सोबती के नाम बहुत कुछ दर्ज किया है. उनके लिखे अल्फाज जिंदगी के हर अंधेरे कोने में दिया बनके कंदीलें जलाने को तत्पर मिलते हैं. फूलों को अतत: सूखना ही होता है, बेशक जीवन के फूलों को भी! लेकिन एक समर्थ और सार्थक कलम उन्हें सदैव महकाए रखती है. ऐसी एक कलम का नाम कृष्णा सोबती था.
- कृष्णा सोबती का जिस्मानी अंत 25 जनवरी 2019 को तब हुआ था जब देश औपचारिक रूप से गणतंत्र दिवस मनाने की तैयारियों में मसरूफ था. तब भी तंत्र हावी था और गण गौण. इन्हीं चिंताओं के साथ गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर कृष्णा जी ने आखिरी सांस ली थी. अंधकार में खड़े उनके साथी, समकालीन (लेखक) और पाठक-प्रशंसक, एक साल बाद उनका गहरी शिद्दत के साथ पुण्य स्मरण कर रहे हैं. कृष्णा सोबती आज जिस्मानी तौर पर होतीं तो आज के मुश्किल समय में उनका कहा, लिखा और बोला यकीनन मशाल का काम करता.
- कृष्णा सोबती ने अंतिम दौर में अपनी चिंतनधारा और यथार्थवादी अनुभवों से फासीवादी प्रवृत्तियों पर खूब और जमकर प्रहार किए. इस दौरान उन्होंने रचनात्मक लेखन लगभग स्थगित कर दिया था और वैचारिक लेखन को तरजीह दी. भीतर की रोशनी बेशक तेज हो गई थी लेकिन आंखों ने देह का साथ लगभग छोड़-सा दिया था. बहुत मोटे लेंस के साथ बामुश्किल वे पढ़ती- लिखतीं और बुद्धिजीवी होने का सच्चा धर्म निभातीं.
- तब का 'जनसत्ता' आज से थोड़ा अलग था. तब वह कहीं न कहीं प्रतिरोध की आवाज का एक मंच भी था. उस वक्त उनके लेख, जिन्हें वे अपने मोटे लेंस वाले चश्मे के सहारे हाथ से लिखा करती थीं, अखबार के पहले पन्ने पर 'बैनर न्यूज़' की जगह छपते थे. जुल्मत की मुखालफत में एक-एक लफ्ज को उन्होंने कैसी वैज्ञानिक संवेदना और तार्किक क्रोध के साथ लिखा, इसे उनके वे लेख पढ़कर ही जाना जा सकता है. या तब जाना जाएगा जब अंतिम दिनों का उनका वैचारिक लेखन किताब की शक्ल में सामने आएगा.
- अपने समकालीन तथा अपने समकक्ष कद वाले हिंदी लेखकों में वे पहली थीं जिन्होंने अराजकता-असहिष्णुता के विरुद्ध इस तरह कलम चलाई कि असाहित्यिक पाठकों को भी सही 'परख' के लिए नई दिशा-दिशा मिली. कृष्णा सोबती जब यह सब कर रही थीं तब उनके ज्यादातर समकालीन लेखक आराम कुर्सियों पर बैठे विपरीत समय को बगल से गुजरते देख रहे थे. या कहानियां-कविताएं लिखते-पढ़ते ऊब-ऊंघ रहे थे. कृष्णाजी कभी भी उन संस्कृतिकर्मियों की कतार का हिस्सा नहीं रहीं जो ये मानते हैं कि एक (रचनात्मक) 'लेखक' का काम सिर्फ लिखना होता है, सामाजिक सरोकारों में जमीनी स्तर पर आकर हिस्सेदारी करना नहीं. अपनी जीवन संध्या में उन्होंने खुलकर उन वर्गों के हक में लिखा- बोला, जो या तो सत्ता के निशाने पर रहते हैं या समाज के हाशिये पर.
- सरकारी साहित्यिक पुरस्कारों की बेशर्म लूटपाट और जोड़-तोड़ के बीच प्रतिरोध की प्रतिनिधि आवाज बनते हुए कृष्णा सोबती ने भारतीय साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता एक पल में छोड़ दी. इस सदस्यता को लेखन का सर्वोच्च सम्मान माना जाता है. लोकतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता के लिए इसे वापस लौटाना उन्होंने अनिवार्य माना. वे इस सोच पर अडिग थीं कि लोकतंत्र के क्षरण के साथ मनुष्यता के खत्म होने का संक्रमण भी शुरू हो जाएगा. उनकी किताब 'शब्दों के आलोक में' इसी चिंतनधारा के साथ प्रारंभ और समाप्त होती है. यह उनके 'जिंदगीनामा' के फलसफे का भी सच था.

THE CORE IAS (Mukherjee Nagar) www.thecoreias.com

- असहिष्णुता के खिलाफ हिंदी समाज से पहली बड़ी आवाज कृष्णा सोबती की उठी थी. उठी क्या-गूंजी थी! प्रतिरोध की उस गूंज में इतनी तीव्रता थी कि कई बड़े वामपंथी लेखक भी उनसे किनारा कर गए कि कहीं सत्ता के कहर का शिकार न होना पड़ जाए. हालांकि भारतीय भाषाओं के बेशुमार बड़े लेखक-संस्कृतिकर्मी कृष्णा जी के साथ आते गए. तभी पुरस्कार वापसी का अभियान चला जिसे सत्ता पक्ष ने अवार्ड वापसी गिरोह कहकर लांछित किया.
- इसी दौरान दिल्ली में 'प्रतिरोध' के नाम से एक विशाल सेमिनार आयोजित किया गया था. इसमें देश के अलग-अलग भाषाओं के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों ने शिरकत की. रोमिला थापर, डॉ कृष्ण कुमार, अशोक बाजपेयी और गणेश देवी आदि भी इसमें शामिल थे. कृष्णा सोबती बीमारी की हालत में इस सेमिनार की अध्यक्षता करने वहील चेयर पर आई थीं. उनका शरीर कमजोर था लेकिन प्रतिरोध की आवाज बेहद-बेहद बुलंद! इस कदर कि वे एक घंटा से ज्यादा समय तक इतना प्रभावशाली और इतनी ऊर्जस्विता के साथ बोलीं कि मौजूद तमाम लोग कुर्सियों से खड़े होकर देर तक तालियां बजाते रहे. वैसा निर्भीक और साहस भरा जोशीला भाषण शायद ही कभी किसी हिंदी लेखक ने शासन-व्यवस्था के खिलाफ दिया हो. उनका दो टूक मानना था कि सच्चे लेखक की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है जो दरबारी-सरकारी सत्ता से कहीं ज्यादा सशक्त और पाक-पावन होती है.
- लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति आस्था और उसकी हिफाजत का जज्बा उनके खून में था. उनका पहला उपन्यास 'चन्ना' था जो छपकर तब आ पाया जब वे मृत्युशैया पर थीं. आधी सदी पहले लिखे अपने इस उपन्यास को उन्होंने अपनी जेब से पैसे देकर अधछपा वापिस उठा लिया था. प्रकाशक उसमें से पंजाबी-उर्दू के कुछ शब्द हटाना चाहता था जो कृष्णा सोबती को मंजूर नहीं हुआ और छपाई का हर्जाना देकर उन्होंने इसे 'विड्रा' कर लिया. 2019 में इसे राजकमल प्रकाशन ने प्रकाशित किया. यह उनकी जिंदगी रहते छपी आखिरी किताब थी जो सबसे पहले लिखी गई थी. लेकिन उन्होंने अपनी लेखकीय आजादी की हिफाजत करते हुए इसे नहीं छपवाया. यह प्रकरण मिसाल है कि जिन लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति वे अपने आखिरी वक्त में संघर्षरत थीं, उन्हीं के लिए अपने लेखकीय जन्म के वक्त भी थीं.
- कृष्णा सोबती हिंदी शब्द संसार में अकेली हैं जिन्होंने अपने समकालीनों पर सबसे ज्यादा और विस्तार से लिखा है. यहां भी उनकी 'लोकतांत्रिक लेखनी' की दृढ़ता स्पष्ट दिखती है. उन्होंने अपनी उम्र से छोटे और उपलब्धियों के लिहाज से कमतर माने जाने वाले लेखकों पर लिखने में अपनी हेठी नहीं समझी. ईमानदार प्रतिभा की वे कायल थीं और इस धारणा की पक्की कि उनकी वजह से कोई फूल सूख ना जाए! बलवंत सिंह, रमेश पटेरिया, अमजद भट्टी, महेंद्र भल्ला, रतिकांत झा, खान गुलाम अहमद, उमाशंकर जोशी, देवेंद्र इस्सर, गिरधर राठी, सौमित्र मोहन, स्वदेश दीपक और सत्येन कुमार सरीखी विलक्षण प्रतिभाओं पर समग्रता से इतना डूबकर किसने लिखा है? कृष्णाजी लिख सकती थीं और उन्होंने ही लिखा.
- यह भी कृष्णा सोबती कर सकती थीं कि ज्ञानपीठ पुरस्कार से मिली 11 लाख रुपए की राशि साहित्यसेवियों के सहयोगार्थ रज़ा फाउंडेशन को सौंप दें. वह भी तब, जब खुद उन्हें आर्थिक दिक्कतें घेरे हुए थीं. वसीयत में उन्होंने करीब एक करोड़ रुपए का एक फ्लैट भी रज़ा फाउंडेशन के नाम कर दिया.
- तो ये हैं जिंदगीनामा, दिलो-दानिश, ऐ लड़की, डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजानी, यारों के यार, तिन पहाड़, सूरजमुखी अंधेरे के, समय सरगम, जैनी मेहरबान सिंह, गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, चन्ना, बादलों के घेरे, हम हशमत, शब्दों के आलोक में, बुद्ध का कमंडल: लद्दाख, मार्फत दिल्ली, मुक्तिबोध: एक व्यक्तित्व सही की तलाश में की लेखिका के जिंदगीनामे के सदा जिंदा रहने वाले चंद पहलू!

THE CORE IAS
(A unit of just dream)
www.thecoreias.com

अशोक वाजपेयी: उन चंद लोगों में से एक जो कह सकते हैं कि उनका पूरा निवेश एक काल्पनिक लोक में रहा

- अशोक वाजपेयी के जन्मदिन पर उत्सव ज़रूर होता है, इस बार भी होगा. इस बार भी जब उनका देश एक गहरी बेचैनी में ऐंठ रहा है. यह शायद इसलिए है कि वे उस यहूदी कहावत में यक़ीन रखते हैं कि "मनुष्य के सामने हंसो, रोओ ईश्वर के सामने!" जीवन का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, वह जब सामने हो तो उसे नज़रंदाज़ करना एक तरह से पाप ही है. शायद इसलिए भी कि जब तमाम शैतानी ताक़तें ज़िंदगी को कुचल देना चाहती हों हमें उन्हें जवाब देना पड़ता है, तुम हमसे हमारी हंसी नहीं छीन पाओगी.
- नाज़ी जुल्म पर बनी बहुत सारी फ़िल्मों में से एक देख रहा था. नाज़ियों के द्वारा बनाए कॉन्सेंट्रेशन कैम्प में एक औरत आती है. बहुत सारे लोग काफ़ी पहले से वहां क़ैद हैं. वह अचरज से देखती है कि यातना की इस छाया में भी बंदी एक दूसरे को चूम रहे है, कोई अपना गिटार ठीक कर रहा है. वह घिन से उन पर झपट पड़ती है. उस कैम्प का एक तजुर्बेकार क़ैदी उसके पास आता है और उसे समझाता है," यह जो तुम देख रही हो, वह जीवन है. उससे इंकार नहीं किया जाता."
- जीवन हमेशा अप्रत्याशित रूपों में ही सामने आता है. इसलिए अशोकजी को, जो उनका पहले से जाना नहीं है, जो पूर्व परीक्षित और अधिकारियों के द्वारा प्रमाणित नहीं है, उससे रिश्ता बनाने में कोई संकोच नहीं होता. यह प्रयोग है, ब्रेख़्त के शब्दों में नया, जैसा भी हो, उसका ऐहतराम है. प्रयोग हमेशा सफल हो, इसलिए नहीं किया किया जाता, वह एक और अद्वितीय की अपेक्षा में किया जाता है. मनुष्य हो या संस्था, अशोक वाजपेयी प्रयोग हर तरह की निराशा की आशंका के बावजूद करते ही जाते हैं.
- अस्सी के पार निकल गए अशोक वाजपेयी अब ज़रा सावधानी से कदम रखते हैं. अपने शुभचिंतकों की ज़िद पर अब बाहर सफ़र पर जाते वक्त पर एक सहयोगी को ले लेते हैं. लेकिन उनकी सक्रियता दूसरों को दम नहीं लेने देती. दिमाग़ की फुर्ती कम होने का नाम नहीं लेती.
- यह जो सार्वजनिक जीवन है अशोकजी का, उसने प्रायः उनके कवि रूप को ढंक लिया है. मुझे इसमें बहुत आश्चर्य न होगा अगर उनसे सांस्थानिक और दूसरे सार्वजनिक रिश्ते रखने वालों में से अधिकतर ने उनकी कविता की तरफ़ देखा ही न हो. अशोक वाजपेयी पर विचार लेकिन हमेशा एक कवि की तरह किया जाना चाहिए. उनके अध्यापक ने उनसे कहा यही था, मरना उनको कवि की तरह ही है. रघुवीर सहाय ने भी तो हर मोर्चे पर लड़ने को कहा था और चेतावनी दी थी कि मरना अपने ही मोर्चे पर चाहिए. तो अशोकजी का अपना मोर्चा कविता का ही है.
- लंबे समय तक अशोक वाजपेयी कविता और शब्द की स्वायत्तता के लिए खड्गहस्त रहे हैं. राजनीति या विचारधारा कविता को अपना प्रवक्ता नहीं बना सकती, यही उनकी जिद रही है. यह शायद इसलिए है कि वे कविता की कल्पना इस तरह करते हैं कि वह किसी भी प्रकार की सत्ता की इच्छा से ख़ुद को आज़ाद रख सकती है. वह ज़िंदगी से सिर्फ़ ज़िंदगी के लिए रिश्ता बनाना चाहती है. या यों कह लें कि वह ज़िंदगी को समझ लेने और पूरी तरह से परिभाषित करने के प्रलोभन का ख़तरा जानती है. वह एक ईमानदार शब्द है. विचारधारा और राजनीति में आख़िरकार रणनीति जगह बना ही लेती है. कविता निष्कवचता या वध्यता की मांग है. इसलिए वह यह कह सकती है कि आख़िरकार हम कहीं पहुंचते नहीं:

"हमने यह नहीं सोचा था
कि इतने समय बाद हम फिर वहीं पहुंच जायेंगे

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

जहां से चले थे".
इस निराशा का कारण है.
"हुआ यह है" शृंखला की एक कड़ी:
हुआ यह है
कि अब हम जहां नहीं थीं वहां
दीवारें बनाने में लगे हैं;
जो खिड़कियां पहले से थीं
उन्हें तालाबंद कर रहे हैं
ताकि पड़ोस का दृश्य हमें आगे न दीखे;
जो हो रहा है उससे हम मुतमईन रहे आयें.
हुआ यह है कि
हमारे पास कोई सवाल नहीं बचे हैं
और हमारी दराज़ दूसरों के बने-बनाये उत्तरों से भरी पड़ी है:
हम आश्वस्त हो गये हैं कि
सभी ज़रूरी मसलों का हल मिल गया है.
हुआ यह है
कि हम अब बहस नहीं करते, सिर्फ़ झुंझलाते-झगड़ते हैं
क्योंकि हमें यक़ीन है कि आख़िर में हम ही जीतेंगे
और बहसों से कोई फ़ायदा नहीं होता.
हुआ यह है
कि हम अब एक-दूसरे पर निगरानी रख रहे हैं
क्योंकि हम पर शक किया जा रहा है और अब हमें भी
दूसरों पर भरोसा कम, शक ज़्यादा होने लगा है.
हुआ यह है
कि अब हम आदमी थोड़ा कम हो रहे हैं
और हमें इसकी परवाह करने की फ़ुरसत नहीं मिल रही है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

साहित्य और कविता का दावा मनुष्यता के सृजन का था. अब वह उसके उलट हुआ दीखता है. संभवतः इसी वजह से अब अशोक वाजपेयी अपनी उस धारणा पर विचार कर रहे हैं कि कविता अपने आप में पर्याप्त नागरिकता है. वे ठीक ही कहते हैं कि कविता अपना काम कर सके उसके लिए ज़रूरी कई दूसरी सामाजिक संस्थाओं को काम करना है. वे काम करें इसके लिए राजनीतिक कार्रवाई की ज़रूरत होगी.

शब्द अपना काम तभी ठीक कर सकते हैं जब मनुष्य ठीक तरीक़े से काम करे. कवि शायद तब तक सिर्फ़ यही कह सकता है,

प्रार्थना करता हूं
बढ़ती निराशा के ओसारे से
कि भले गढ़े अंधेरे में हाथ को हाथ न सूझता हो,
हाथ दूसरे हाथों को छू तो सकते हैं
और ऐसे हाथ मेरे हों.
दूसरों के जूते मेरे पैरों पर ठीक बैठें
मेरी आवाज़ में दूसरों की आवाज़ भी गूंजे
और मेरी कविता दूसरों को अपनी लगे.

अशोक वाजपेयी को कविता की ताक़त की सीमा का अहसास है. वे जानते हैं कि कविता का स्वप्न संभवतः कभी चरितार्थ न होगा. मनुष्यता हमेशा अधूरी रहेगी लेकिन उसी वजह से उसे हासिल करने की होड़ में रोमांच बना रहेगा, "हमारे समय और समाज में अपनी ही नहीं समूची कविता की विफलता का तीख़ा-गहरा अहसास मुझे है. लेकिन 'आस उस दर से छूटती ही नहीं, जा के देखा, न जा के देख लिया' जैसा कि फ़ैज़ ने कहा था. अगर कहीं भी मेरी मानवीयता पूरी होती या उसका भ्रम महसूस करती है तो कविता में ही. मेरे लिए जीना कविता के लिए जीना है. कविता के बाहर बहुत सारा जीवन है यह सही है और मुझे पता है. पर सही या ग़लत मेरे लिए वही जीवन अर्थ रखता है जो कविता में है या जिसे कविता रचती है. यह कविता में एक तरह की अबोध आस्था नहीं है: यह आस्था है उसकी घटती जगह और साख को जानते हुए. यह एक 'हारी होड़' है. हारी है पर होड़ है."अशोक वाजपेयी ने इसी होड़ में जीवन लगा दिया है. कम ही ऐसी जिंदगियां हैं जो कह सकती हैं कि उनका पूरा निवेश एक काल्पनिक लोक में था. इस निवेश से यह मर्त्य लोक किंचित समृद्ध होना चाहिए था. वैसा न हुआ देख यही कहने को जी चाहता है,

समय आ गया है
जब हम अपनी पराजय का स्तुतिगान लिखें:
बिना किसी वीरता या शहादत के
हमारा जीवन होम होने को है
और न इस्तगासे न किस स्मृतिगाथा में
हमारा ज़िक्र होगा:
शायद हम भी भूल जायें कि कभी हम थे.
हमसे हमारी गोधूलि तक छिनने की कगार पर है.
लेकिन फिर, निराला के शब्दों में वह जो एक और मन है, वह थकता नहीं:
अभी आवाज़ उठ सकती है, अभी पुकार का उत्तर दिया जा सकता है
अभी कविता से रूठे शब्दों को मनाकर वापस लाया जा सकता है
अभी झूठों की भीड़ में कम से कम एक सच को घुसाया जा सकता है
बस कैसे करूं?
बहुत से काम बाक़ी हैं
दूसरे साथ आने को तैयार हैं
लोग फिर सच की ओर मुड़ रहे हैं
बस कैसे करूं?

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

अशोकजी बस कर नहीं सकते और दूसरों को भी बस करने दे नहीं सकते.

अगर राम के नाम पर हमें बांटा जा रहा है तो हम कृष्ण के नाम पर एक हो जाएं

किस्सा है कि राम भक्त तुलसी एक बार घाट से स्नान करके घर जा रहे थे. रास्ते में उन्हें कन्हैया जी के दर्शन हो गए. और दर्शन भी क्या हुए! बांके बिहारी वाली छवि में खड़े हुए थे कन्हैया जी. यानी सिर पर मोर पंखी और होंठों पर बांसुरी और त्रिभंगी मुद्रा. तुलसी ने उन्हें प्रणाम किया और चल दिए. कृष्ण हतप्रभ रह गए! आख़िर तीन लोक के नाथ थे, महाभारत के सूत्रधार थे, द्वापर के सबसे बड़े पात्र थे. राम में तो 12 कलाएं मानी जाती हैं. कृष्ण 16 कलाओं से परिपूर्ण थे. उनकी अनदेखी! कृष्ण ने जब उनसे इस उपेक्षा का कारण पूछा तो तुलसी बोले, 'क्या कहूं छबि आपकी, भले बने हो नाथ. तुलसी मस्तक जब नवे, धनुस बान हो हाथ.'

अब तुलसी तो सबसे बड़े राम भक्त, शायद हनुमान से भी बड़े. पर कृष्ण के भी भक्त कम नहीं हुए हैं. हिंदू धर्म के अलावा इस्लाम, ईसाई, जैन और सिख मज़हबों के अनुयायी तक कृष्ण की लीला से विस्मित रहे हैं. ग़लत नहीं होगा अगर कहें कि कृष्ण गंगा-जमुनी तहज़ीब के सबसे बड़े प्रतीक हैं.

कृष्ण भक्ति और सूफ़ीवाद का मिलन

ग्यारहवीं शताब्दी के बाद इस्लाम भारत में तेज़ी से फैला. लगभग इसी समय भक्ति काल और सूफ़ीवाद में ज़बरदस्त संगम हुआ और भारत में इस्लाम कृष्ण के प्रभाव से अछूता नहीं रह पाया. सूफ़ीवाद ईश्वर और भक्त का रिश्ता प्रेमी और प्रेमिका के संबंध की मानिंद मानता है. इसलिए राधा या फिर गोपियां या सखाओं का कृष्ण से प्रेम सूफ़ीवाद की परिभाषा में एकदम सटीक बैठ गया. नज़र ज़ाकिर अपने लेख 'ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ़ बांग्ला लिटरेचर' में लिखते हैं कि चैतन्य महाप्रभु के कई मुस्लिम अनुयायी थे.

स्वतंत्रता सेनानी, गांधीवादी और उड़ीसा के गवर्नर रहे बिशंभर नाथ पांडे ने वेदांत और सूफ़ीवाद की तुलना करते हुए एक लेख में कुछ मुसलमान कृष्ण भक्तों का ज़िक्र किया है. इनमें सबसे पहले थे सईद सुल्तान जिन्होंने अपनी क़िताब 'नबी बंगश' में कृष्ण को नबी का दर्ज़ा दिया. दूसरे, अली रज़ा. इन्होंने कृष्ण और राधा के प्रेम को विस्तार से लिखा. तीसरे, सूफ़ी कवि अकबर शाह जिन्होंने कृष्ण की तारीफ़ में काफी लिखा. बिशंभर नाथ पांडे बताते हैं कि बंगाल के पठान शासक सुल्तान नाज़िर शाह और सुल्तान हुसैन शाह ने महाभारत और भागवत पुराण का बांग्ला में अनुवाद करवाया. ये उस दौर के सबसे पहले अनुवाद का दर्ज़ा रखते हैं.

और उस दौर के सबसे मशहूर कवि अमीर ख़ुसरो की कृष्ण भक्ति की बात ही कुछ और है. बताते हैं एक बार निज़ामुद्दीन औलिया के सपने में श्रीकृष्ण आये. औलिया ने अमीर ख़ुसरो से कृष्ण की स्तुति में कुछ लिखने को कहा तो ख़ुसरो ने मशहूर रंग 'छाप तिलक सब छीनी रे से मोसे नैना मिलायके' कृष्ण को समर्पित कर दिया. इसमें कृष्ण का उल्लेख यहां मिलता है, '...ऐ री सखी मैं जो गई थी पनिया भरन को, छीन झपट मोरी मटकी पटकी मोसे नैना मिलाईके...'

भक्ति काल के रसखान

भक्ति काल के कबीर, नामदेव और एकनाथ तुकाराम जैसे चिंतकों ने निर्विकार की पूजा को महत्व दिया, पर वहीं कुछ मुसलमान कवियों पर कृष्ण हावी हो गए. इनमें सईद इब्राहिम उर्फ़ 'रसखान' का नाम सबसे पहले आता है. बिल्कुल सूरदास की तरह उन्होंने भी कृष्ण लीलाओं का वर्णन किया है. रसखान की कृष्ण भक्ति को अब क्या कहिए. भागवत पुराण का फ़ारसी में अनुवाद करने वाले रसखान की कृष्ण कल्पना में ठेठ ब्रज भाषा छलकती है. उनका कृष्ण वर्णन कुछ ऐसा है मानो कृष्ण उनके सामने ही लीला कर रहे हैं. मसलन, वे देख रहे हैं कि कभी कृष्ण पहाड़ उठा रहे हैं तो कभी धूल से सने हुए हैं. कभी व्यास, नारद को छका रहे हैं तो कभी कृष्ण गोपियों की चिरोरी करते हुए छाछ मांग रहे हैं.

सेस, गनेस, महेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावें
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुभेद बतावें
नारद से सुक ब्यास रहें पचि हारे तऊ पुनि पार न पावें
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पे नाच नचावें

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

गोस्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने के बाद रसखान वृन्दावन में ही बस गए. अंतिम सांस उन्होंने मथुरा में ली थी और वहीं उनका मकबरा भी है.

आलम शेख़

आलम शेख़ रीति काल के कवि थे. उन्होंने 'आलम केलि', स्याम स्नेही' और माधवानल-काम-कंदला' नाम के ग्रंथ लिखे. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि आलम हिंदू थे जो मुसलमान बन गए. उनका मानना है कि प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' से होनी चाहिए.

'पालने खेलत नंद-ललन छलन बलि,
गोद लै लै ललना करति मोद गान है।
'आलम' सुकवि पल पल मैया पावै सुख,
पोषति पीयूष सुकरत पय पान है।
नंद सों कहति नंदरानी हो महर सुत,
चंद की सी कलनि बढ़तु मेरे जान है।

आइ देखि आनंद सों प्यारे कान्हा आनन में,
आन दिन आन घरी आन छबि आन है।

नज़ीर अकबराबादी

रीति काल के अंतिम सालों में नज़ीर अकबराबादी का कृष्ण प्रेम तो रसखान के कृष्ण प्रेम से टक्कर लेता हुआ दिखता है. कुछ ऐसी रार जैसी मीरा को राधा से रही होगी. वैसे इतिहास में राधा का पात्र जयदेव के 'गीत गोविन्द' के बाद ही आता है.

कृष्ण उपासना का प्रचलन इसी दौरान अधिक हुआ. नज़ीर की दृष्टि में श्रीकृष्ण दुःख हरने वाले, कृपा करने वाले और परम आराध्य ही हैं. उनके लिए कृष्ण पैगंबर जैसे हैं. उन्होंने कृष्णचरित के साथ रासलीला का वर्णन किया है तो कृष्ण के बड़े भाई बलदेव पर 'बलदेव जी का मैला' नामक कविता लिखी. कृष्ण की तारीफ़ में लिखते हुए वे उन्हें सबका ख़ुदा बताते हैं.

'तू सबका ख़ुदा, सब तुझ पे फ़िदा, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
है कृष्ण कन्हैया, नंद लला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी
तालिब है तेरी रहमत का, बन्दए नाचीज़ नज़ीर तेरा
तू बहरे करम है नंदलला, ऐ सल्ले अला, अल्ला हो ग़नी, अल्ला हो ग़नी.'

एक कविता में वे कृष्ण पर लिखते हैं:

'यह लीला है उस नंदललन की, मनमोहन जसुमत छैया की
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जय बोलो किशन कन्हैया की.'

बताते हैं कि भीख मांगने वाले जोगी के निवेदन पर नज़ीर ने 'कन्हैया का बालपन' कविता कही

'क्या-क्या कहूं किशन कन्हैया का बालपन
ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन.'

इस कविता में पूरे 32 छंद हैं जिनमें कृष्ण के एश्वर्य और माधुर्य दोनों का ज़बरदस्त वर्णन है.

वाजिद अली शाह का कृष्ण प्रेम

देखिये यूं तो फैज़ाबाद का राम लला प्रेम जगज़ाहिर है. पर वहां से निकले और लखनऊ आकर बसे नवाबों के आख़िरी वारिस वाजिद अली शाह कृष्ण के दीवाने थे. 1843 में वाजिद अली शाह ने राधा-कृष्ण पर एक नाटक करवाया था. लखनऊ के इतिहास की जानकार रोज़ी लेवेलिन जोंस 'द लास्ट किंग ऑफ़ इंडिया' में लिखती हैं कि ये पहले मुसलमान राजा (नवाब) हुए जिन्होंने राधा-कृष्ण के नाटक का निर्देशन किया था. लेवेलिन बताती हैं कि वाजिद अली शाह कृष्ण के जीवन से बेहद प्रभावित थे. वाजिद के कई नामों में से एक 'कन्हैया' भी था.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

कृष्ण और बॉलीवुड

वाजिद अली शाह के बाद तो अंग्रेज़ आ गए थे. विलियम जे हंटर, जॉन मिल, जॉन बेर्वेर्ली निकोल्स जैसे लेखकों और विचारकों ने हमारे ज़हनों में झूठ ठूंस-ठूंस कर साबित कर दिया कि हिंदू और मुस्लिम साथ नहीं रह सकते क्यूंकि दोनों मुख्तलिफ़ कौमें हैं. आज़ादी के बाद बॉलीवुड में राजा मेहदी अली खान, शकील बदायूंनी जैसे गीतकारों का कृष्ण वर्णन बेहद शानदार है. पर एक शायर का नाम लिए बिना यह लेख ख़त्म नहीं हो सकता. वे थे निदा फ़ाज़ली. जितना अच्छा उन्होंने कृष्ण पर लिखा इस दौर में शायद ही कोई लिख पाया. उनका एक शेर देखिये:

'फिर मूरत से बाहर आकर चारों ओर बिखर जा
फिर मंदिर को कोई मीरा दीवानी दे मौला.'

हम मुख्तलिफ़ थे, कोई शक नहीं. पर साथ थे, इसमें भी कोई शक नहीं.

आखिर कैसे एक जनजातीय नायक श्रीकृष्ण हमारे परमपिता परमेश्वर बन गए?

- हिंदू धर्मग्रंथों में जितने भी देवी-देवताओं का जिक्र मिलता है, उनमें श्रीकृष्ण सबसे लोकप्रिय हैं - ग्वालों के बालगोपाल, प्रेम के देवता, धर्मोपदेशक और एक अजेय योद्धा. उनकी पूरी कहानी, जिसे कृष्णगाथा भी कह सकते हैं, कई बिलकुल अलग-अलग तरह के तत्वों को बडी सुंदरता से जोड़ने पर बनी है. यह करीब 800-900 साल के लंबे अंतराल में विकसित हुई. दिलचस्प बात यह है कि इस गाथा का विकास उल्टे क्रम में हुआ है. इसमें पहले पांडवों के मित्र और द्वारका के संस्थापक के रूप में युवा कृष्ण सामने आते हैं फिर गायें चराने वाले बाल कृष्ण और ग्वालिनों के साथ रास रचाने वाले प्रेम के प्रतीक कृष्ण का वर्णन आता है.

कृष्ण का सबसे पहला जिक्र छठी शताब्दी ईसापूर्व 'छंदोग्य उपनिषद' में मिलता है. इसमें उन्हें एक साधु और उपदेशक बताया गया है

वासुदेव और कृष्ण

- ब्रिटेन में लैंकैस्टर विश्वविद्यालय के धार्मिक अध्ययन विभाग में मानद शोधकर्ता रहीं फ्रीडा मैशे ने एक किताब लिखी है - 'कृष्ण, ईश्वर या अवतार? कृष्ण और विष्णु के बीच संबंध'. इसमें वे लिखती हैं कि कृष्ण-वासुदेव, पहले यादव समुदाय की सत्वत्त और वृष्णि जनजातियों के नायक हुआ करते थे. इन्हें समय के साथ-साथ देवता मान लिया गया. फिर दोनों एक हो गए.
- कृष्ण का सबसे पहला जिक्र छठी शताब्दी ईसापूर्व में 'छंदोग्य उपनिषद' में मिलता है. इसमें उन्हें एक साधु और उपदेशक बताया गया है. साथ ही इसमें उनका देवकीपुत्र के रूप में भी उल्लेख है. चौथी शताब्दी ईसापूर्व में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' (संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ) में कृष्ण को एक देव की तरह प्रस्तुत किया गया है. साथ ही इसमें वृष्णिवंशी यादव जनजाति के बारे में भी विस्तार से बताया गया है, जिससे कृष्ण जुड़े हुए थे. मौर्य राजदरबार में यूनान (ग्रीस) के दूत रहे मेगस्थनीज की किताब 'इंडिका' में बताया गया है कि किस तरह शूरसेनियों (वृष्णिवंशी यादवों की ही एक शाखा) ने मथुरा में कृष्ण को देवता की तरह पूजना शुरू किया. इस तरह चौथी शताब्दी ईसापूर्व में कृष्ण-वासुदेव न सिर्फ नायक से देवता के रूप में परिवर्तित हुए, बल्कि काफी लोकप्रिय भी हो चुके थे.

विष्णु रूप कृष्ण

- दूसरी शताब्दी ईसापूर्व तक वैदिक पूजा पद्धति कठोर हो चुकी थी और उसके धार्मिक संस्कार महंगे. इसी दौरान सम्राट अशोक के समर्थन और प्रचार कार्य की वजह से बौद्ध दर्शन अपना आधार बढ़ाता जा रहा था. इसी बीच, बड़े पैमाने पर विदेशी आक्रमणकारियों (जैसे शक आदि) का भारत में आगमन शुरू हो गया. वे बौद्ध दर्शन आदि से ज्यादा सहानुभूति रखते थे. ऐसे में, पुरोहित वर्ग के अधिकार और असर में कमी आने लगी. निचले वर्णों की आर्थिक स्थिति भी बेहतर हुई और उन्होंने वर्ण व्यवस्था को चुनौती देना शुरू कर दिया. और जैसा कि सुवीरा जायसवाल अपनी किताब 'वैष्णववाद की उत्पत्ति और विकास' में लिखती हैं - 'ब्राह्मणों ने कृष्ण-वासुदेव के भक्ति-पंथ पर कब्जा कर लिया. वे कृष्ण को नारायण-विष्णु का स्वरूप बताने लगे. इसके पीछे उनका मकसद संभवत: सामाजिक आचार-व्यवहार में अपना अधिकार और प्रभुत्व एक बार फिर से स्थापित करना था.' यहां जिक्र करना दिलचस्प होगा कि नारायण और विष्णु भी पहले अलग देवों की तरह पूजे जाते थे. बाद में दोनों को एक ही मान लिया गया.

THE CORE IAS ('A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

महाभारत में तमाम जगहों पर उस असमंजस या दुविधा का भी जिक्र मिलता है कि किसी अनार्य जनजातीय देव (कृष्ण) को परमेश्वर का दर्जा कैसे दिया जाए

- यानी इस काल में कृष्ण-वासुदेव का नारायण-विष्णु के साथ घालमेल हो गया. उन्हें महाभारत के युद्ध के नायक का दर्जा मिला. साथ ही भगवद् गीता का उपदेश देने वाले उपदेशक के रूप में भी मान्यता मिली. हालांकि महाभारत में ही तमाम जगहों पर इस असमंजस या दुविधा का भी जिक्र मिलता है कि किसी अनार्य जनजातीय देव (कृष्ण) को परमेश्वर का दर्जा कैसे दिया जाए. इसीलिए शुरू-शुरू में कृष्ण-वासुदेव का विवरण नारायण-विष्णु के अंशावतार के रूप में ही दिया जाता है.

बाल कृष्ण

- इस तरह, पहली शताब्दी ईसापूर्व तक कृष्ण की पूजा सिर्फ उनके युवा स्वरूप में ही होती थी. वे पांडवों के मित्र, एक उपदेशक, वृष्णिवंशी यादवों के नायक और विष्णु के अंशावतार माने जा चुके थे. लेकिन उनकी महागाथा में एक सबसे अहम चीज अब भी नदारद थी - उनका बचपन. जबकि आज उनके बारे में सबसे ज्यादा जिक्र उनके बचपन का ही होता है. कालांतर में जब कृष्ण को अभीर (अहीर) जनजाति के देव का दर्जा मिला तो यह कमी भी पूरी हो गई. कृष्ण के साथ गोपाल (गाय चराने और पालने वाले) का मेल भी हो गया. हालांकि यह अब तक साफ नहीं है कि अभीर जनजाति भारतीय उपमहाद्वीप की ही मूल निवासी थी या किसी और जगह से आकर यहां बसी थी. लेकिन इतना साफ है कि पहली सदी ईसवी में यह जनजाति सिंधु घाटी के निचले इलाकों में निवास करती थी और बाद में पलायन कर सौराष्ट्र (अब गुजरात) में जा बसी. शक और सातवाहन के शासनकाल में यह जनजाति राजनीतिक रूप से भी सक्रिय हुई.
- वृष्णिवंशी यादवों और अभीरों में काफी समानताएं थीं. खासकर दोनों समाजों में महिलाओं को किस तरह देखा जाता था. संभवत: इन्हीं समानताओं की वजह से वृष्णिवंशियों के कृष्ण-वासुदेव को अभीरों का आराध्य भी मान लिया गया. उदाहरण के लिए दो प्रसंग सामने रखे जा सकते हैं. पहला, महाभारत में अर्जुन को कृष्ण अपनी बहन का हरण कर लेने की सलाह देते हैं. इसके पक्ष में वे यह दलील देते हैं कि इस तरह धर्म की रक्षा होगी. यह शायद इस बात का संकेत भी है कि महिलाओं का हरण करना वृष्णिवंशियों में एक सामान्य परंपरा रही होगी. दूसरा, कृष्ण के श्रीधाम सिधारने के बाद जब अर्जुन अपनी छत्रछाया में वृष्णिवंशी महिलाओं को लेकर मथुरा की ओर जाते हैं, तो उन पर अभीरों का हमला हो जाता है और हमलावर उनके काफिले में शामिल कई महिलाओं का अपहरण कर लेते हैं.

पहली से पांचवीं शताब्दी तक विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण जैसे महाकाव्यों ने टूटी हुई उन कड़ियों को जोड़ने का काम किया, जिनसे कृष्ण-वासुदेव और विष्णु-नारायण को समग्र रूप से एक ही रूवरूप में स्थापित किया जा सके

- बहरहाल, कृष्ण-वासुदेव को अभीरों के देव की मान्यता मिलते ही गोपियों के साथ उनके हास-परिहास-रास की कहानियां और प्रसंग भी सामने आने लगते हैं. चूंकि अभीर खानाबदोश किस्म की जनजाति थी, इसलिए उनकी संस्कृति में महिलाओं-पुरुषों के लिए ज्यादा उन्मुक्तता का माहौल था. अभीरों में उन्मुक्तता की यही संस्कृति कृष्ण की रासलीलाओं का आधार भी बनी.

परमपिता परमेश्वर श्रीकृष्ण

- हम जानते हैं कि कृष्ण की कहानी में कृष्ण-गोपाल का सम्मिश्रण बाद में हुआ. क्योंकि महाभारत की मूल कहानी में कहीं भी कृष्ण के बचपन का जिक्र नहीं मिलता. चौथी सदी ईसवी में जब परिशिष्ट या उपबंध के रूप में महाभारत के साथ हरिवंश पुराण का जोड़ हुआ, तब कृष्ण-अभीर की पहचान को एक सुनिश्चित आकार मिला. इस तरह, पहली से पांचवीं शताब्दी ईसवी तक विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण जैसे महाकाव्यों ने टूटी हुई उन कड़ियों को जोड़ने का काम किया, जिनसे कृष्ण-वासुदेव और विष्णु-नारायण को समग्र रूप में स्थापित किया जा सका.
- इस तरह, कृष्ण की जो कहानी अब सामने आती है, उसके मुताबिक, वे यादव क्षत्रियों (एक योद्धा जाति) के कुल में पैदा हुए. उनके पिता का नाम वसुदेव था, इसी आधार पर उनका एक नाम वासुदेव भी पड़ गया. उनका मामा कंस आततायी था, उन्हें मारना चाहता था, इसलिए उसके डर से उन्हें रातों-रात चोरी-छिपे ले जाकर अभीरों के संरक्षण में (नंद नामक गोप के घर) छोड़ आया गया. इसके बाद इस गाथा में समय के साथ-साथ गोपियों के प्रेमी, अर्जुन के सारथी और गीता में धर्म का उपदेश देने वाले उपदेशक के तौर पर कृष्ण परिपक्व होते हैं. और इस तरह कृष्णगाथा आखिरकार पूरी होती है. इसके बाद जनजातीय समुदाय के देवता को परम ईश्वर मानने को लेकर महाभारत में शुरू-शुरू में दिखी दुविधा भी खत्म हो जाती है. और छठी शताब्दी ईस्वी में लिखी गई भागवत पुराण में उन्हें परमपिता परमेश्वर का दर्जा मिल जाता है.

मान्यता के लिए हर जतन करने वाले आज के युवाओं को उस उजले मुक्तिबोध की याद दिलानी चाहिए

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

- आज याने 13 नवम्बर 2018 को गजानन माधव मुक्तिबोध अगर जीवित होते तो अपनी आयु के 103वें वर्ष में प्रवेश कर रहे होते. यह, सब कुछ के बावजूद, हिंदी की आलोचना-बुद्धि की शक्ति और तेजस्विता को पहचानने की उसकी सामर्थ्य का ज्वलंत प्रमाण है: अपने जीवनकाल में अपना पहला कविता संग्रह तक प्रकाशित न देख पाने वाले मुक्तिबोध, अपनी मृत्यु के आधी सदी बाद भी आज प्रासंगिकता और सार्थकता के शिखर पर हैं.
- यह भी उल्लेखनीय है कि उनकी उत्कृष्टता पर जो मतैक्य विकसित हुआ है और उन्हें लेकर जो लिखा गया है उसका श्रेय सिर्फ विचारधारात्मक प्रयत्नों को ही नहीं दिया जा सकता. वाम से असहमत रहने वाले अनेक लेखकों ने उन पर गइराई और समझ के साथ लिखा है. इस मतैक्य में उनकी भी भागीदारी है जो उन्हें, पिछले लगभग 75 वर्षों के दौरान, हिंदी का एक श्रेष्ठ लेखक मानते रहे हैं.
- मुक्तिबोध के लेखन में एक बुनियादी अंतर्विरोध लगभग शुरू से रहा है. अपनी कविता में वे बराबर अंत तक आत्मसंशयग्रस्त रहे लेकिन अपनी आलोचना में उनका आत्मविश्वास अनेक रूपों में प्रगट और विन्यस्त होता है. यह बात पहले भी कई बार कही जा चुकी है कि अपने जीवनकाल में मुक्तिबोध को कभी इसकी आश्वस्ति नहीं थी कि वे एक बड़े लेखक हैं॰: यह कोई ओढ़ा हुआ विनय नहीं था - यह एक आत्मचेतस् लेखक का ईमानदार खरा संशय था. यह भी दिलचस्प है कि उनके निकट जो लेखक-मित्र थे - नेमिचन्द्र जैन, शमशेर बहादुर सिंह, हरिशंकर परसाई, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा आदि - उनमें से कोई भी उन्हें आश्वस्त नहीं कर पाया जबकि उनमें से हरेक बहुत शिद्दत से उनके महत्व को महसूस करता था.
- साहित्य के इतिहास में दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं॰: ऐसे बड़े लेखक जो मुक्तिबोध की तरह संशयग्रस्त रहे और ऐसे भी जो आत्मविश्वास से भरे-पूरे थे. यह तर्क किया जा सकता है कि कम से कम हमारे समय में जब सब कुछ प्रायः संशय-ग्रस्त हो गया है, संशय ही बड़े सृजन का आधार बन सकता है, उसका अभाव नहीं. पर संशय प्रतिभा का हनन भी कर सकता है. लेकिन वह बड़ी प्रतिभा का ऐसा हनन नहीं कर पाता.
- याद करें कि महान् कथाकार फ्रैंज काफ़्का को अपने साहित्य की अकिंचनता पर इतना भरोसा था कि उन्होंने अकालमृत्यु से पहले अपने घनिष्ठ मित्र से सारी पांडुलिपियां नष्ट करने का मित्राग्रह किया था जो, सौभाग्य से, उसने नहीं माना. बाद में वे सभी कृतियां प्रकाशित हुई और काफ़्का की अक्षय कीर्ति का आधार बनीं.
- अपनी उपलब्धि और कीर्ति के इस व्यापक एहतराम पर मुक्तिबोध को कभी यक़ीन न आता. उनकी ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान इतने प्रखर और प्रश्नवाची थे कि वे कुछ भी आसानी से स्वीकार नहीं कर सकते थे. आज जब बहुत सारे महत्वाकांक्षी युवा मान्यता के लिए तरह-तरह के जतन और समझौते करते हैं तो उन्हें उस उजले मुक्तिबोध की याद दिलाना चाहिये.

'बारीक बेइमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़'

THE CORE IAS
(A unit of just dream)

- मुक्तिबोध को भाषा-शिल्पी नहीं माना जाता है. उनकी भाषा के अटपटेपन और उनकी कविता के अराजक शिल्प को काफ़ी देखा-समझा गया है. पर यह भी याद करने की ज़रूरत है कि उनके गढ़े अनेक पद हिंदी आलोचना में बहुमान्य रहे हैं॰: 'सभ्यता-समीक्षा', 'ज्ञानात्मक संवेदन', 'संवेदनात्मनक ज्ञान', 'सत्-चित्-वेदना' आदि.
- इधर उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पक्षी और दीमक' फिर पढ़ते हुए उसके अंतिम अंश की ओर ध्यान गया, विशेषतः इस पंक्ति की ओरः 'बारीक बेइमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़ उसमें कहां'! आगे का अंश आख्यानपरक नहीं एक तरह का आत्मस्वीकार या आत्माभियोग है जो, वैसे भी मुक्तिबोध की विशेषता है, भले हिंदी कहानी में वह उनसे पहले या बाद में कम ही नज़र आते हैं.
- अंश हैः 'और अब मुझे सज्जायुक्त भद्रता के मनोहर वातावरण वाला अपना कमरा याद आता है... अपना अकेला धुंधला-धुंधला कमरा. उसके एकांत में प्रत्यावर्तित और पुनः प्रत्यावर्तित प्रकाश के कोमल वातावरण में मूल-रश्मियों और उनके उद्गम स्रोतों पर सोचते रहना, खयालों की लहरों में बहते रहना कितना सरल, सुंदर और भद्रतापूर्ण है. उससे न कभी गर्मी लगती है, न पसीना आता है, न कभी कपड़े मैले होते हैं. किन्तु प्रकाश के उद्गम के सामने रहना, उसका सामना करना, उसकी चिलचिलाती दोपहर में रास्ता नापते रहना और धूल फांकते रहना कितना त्रासदायक है! पसीने से तरबतर कपड़े इस तरह चिपचिपाते हैं ओर इस क़दर गंदे मालूम होते हैं कि लगता है... कि अगर कोई इस हालत में हमें देख ले तो वह बेशक हमें निचले दर्ज़े का आदमी समझेगा. सजे हुए टेबल पर रखे

क़ीमती फाउंटेनपेन - जैसे नीरव - शब्दांकनवादी हमारे व्यक्तित्व, जो बड़े खुशनुमा मालूम होते हैं - किन्हीं महत्वपूर्ण परिवर्तनों के कारण - जब वे आंगन में और घर-बाहर चलती झाड़ू- जैसे काम करने वाले दिखायी दें तो इस हालत में वे यदि सड़क-छाप समझे जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है. लेकिन, मैं अब ऐसे कामों की शर्म नहीं करूँगा, क्योंकि जहां मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है.'

- यह कहानी 1959 के बाद कभी लिखी गयी ओर 1962 में 'कल्पना' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी. उस समय किसी कहानी का समापन ऐसा नहीं होता था. कथा में मनोजगत् आदि का प्रवेश हो चुका था लेकिन शायद ही कोई किसी कहानी का समापन ऐसे वाक्य से कर सकता थाः '.. क्यों कि जहां मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है.' एक दुर्दम्य बौद्धिक साहित्यकार बुद्धि और ज्ञान पर नहीं संवेदना पर ज़ोर दे रहा है और उसे भाग्यविधायक बता रहा है. यह अनूठा है - मुक्तिबोध के यहां ज्ञान, बुद्धि और संवेदना के बीच की दूरियां उनकी आत्मा के ताप में पिघलकर एकमेक हो जाती थीं. आज के 'तुमुल कोलाहल' में क्या हममें यह ताब बची है कि हम 'हृदय की बात' सुन सकें जिसे मुक्तिबोध ने दारुण संत्रणा के बावजूद कहा और सुना था? क्या हमारे समय में हम लगभग रोज़ बारीक बेइमानियों को सूफ़ियाना अंदाज़ में ज़ाहिर होते नहीं देख रहे हैं?

'नर्मदा की सुबह'

- 1956-57 की बात है. श्रीकांत वर्मा ने बिलासपुर से एक पत्रिका निकाली थी 'नयी दिशा'. उस समय वे संभवतः किसी मिडिल स्कूल में अध्यापक थे. उसमें एक विज्ञापन छपा था जिसमें यह सूचना थी कि गजानन माधव मुक्तिबोध के संपादन में मध्यप्रदेश के युवा कवियों का एक संकलन प्रकाशित होने जा रहा है जिसका नाम होगा 'नर्मदा की सुबह'. उनके बड़े बेटे रमेश मुक्तिबोध को अपने दिवंगत पिता के कागज़ात में इस संकलन के लिए एकत्र की गयी कविताओं की पांडुलिपि मिल गयी है. रायपुर के राजेन्द्र मिश्र ने इस पांडुलिपि को देखकर उसे विन्यस्त किया है. मुक्तिबोध शती के दौरान उसे प्रकाशित करने की योजना है.
- जिस समय मुक्तिबोध यह उपक्रम कर रहे थे उस समय बल्कि उसके आठ साल बाद तक, उनकी मृत्यु होने तक उनका अपना कोई कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था. फिर भी उनकी कोशिश, इस संचयन के माध्यम से, मध्यप्रदेश की युवा प्रतिभा को सामने लाने की थी. यह संकलन प्रकाशित नहीं हो पाया और अब लगभग 60 वर्ष बाद प्रकाशित होने जा रहा है.
- संकलन में कुल आठ कवि शामिल किये जा रहे थेः श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा, श्रीकृष्ण अग्रवाल 'शैल', जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही', विपिन जोशी, हरि ठाकुर, रामकृष्ण श्रीवास्तव, अनिल कुमार और रामकृष्ण श्रीवास्तव. इन कवियों में से श्रीकांत और प्रमोद वर्मा ही आगे चलकर कुछ यश और उपलब्धि अर्जित कर पाये. यह कहना कठिन है कि इस संकलन के पीछे एक चुनौती के रूप में उस समय तक प्रकाशित और अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' की क्या भूमिका थी. 'तार सप्तक' में तो स्वयं मुक्तिबोध भी शामिल थे.
- अपनी समवर्ती रचनाशीलता में किसी लेखक की दिलचस्पी और उसमें हस्तक्षेप करने के कई रूप हो सकते हैं. बहुत सारे लेखक पत्रिकाएं निकालते हैं. कई अपनी समवयसियों पर आलोचना लिखते और पुस्तकों की समीक्षा करते हैं. आजकल फ़ेसबुक इत्यादि पर आत्मसंवर्द्धन का जो बड़ा मंच मिल गया है उसमें परस्पर टिप्पिणयों की बाढ़ भी ऐसी ही कोशिश का हिस्सा है. बहुत कम अज्ञेय और मुक्तिबोध की तरह इस तरह के संकलन कर ऐसी अधिक एकाग्र और सुनियोजित कोशिश करते हैं.
- अब यह देखा जा सकता है कि उस समय मध्य प्रदेश में जो कवि थे उनमें से मुक्तिबोध का किया चयन विवादास्पद ही हो सकता था. यह भी स्पष्ट है कि उनमें से बहुत कम आगे चलकर प्रसिद्धि या उपलब्धि पा सके. पर, यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ फिर भी है. अगर तभी प्रकाशित हो जाता तो निश्चय ही यह तबके मध्यप्रदेशीय परिदृश्य में एक विचारोत्तेजक हस्तक्षेप होता. यह भी उल्लेखनीय है कि इस चयन में मुक्तिबोध ने अपनी वैचारिक दृष्टि को थोपने का यत्न नहीं किया और उनकी संपादकीय दृष्टि समावेशी है. अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ने ऐसे संपादन में ऐसी समावेशी दृष्टि और रुचि का परिचय दिया थाः ऐसा समावेश आज कितना दुर्लभ है!

जो मुक्तिबोध में सिर्फ अंधेरा, भीषण या भयानक ही देखते हैं वे उन्हें जानते नहीं

THE CORE IAS (A Unit of Just Unlearn)

- अशोक वाजपेयी ने मुक्तिबोध के पहले काव्य संग्रह के नामकरण की बहस के बारे में एक बार बताया था कि ख़ुद कवि की इच्छा उस संग्रह का नाम 'सहर्ष स्वीकारा है' रखने की थी लेकिन अशोकजी और उनके मित्रों को यह मुक्तिबोध के काव्य स्वभाव के अनुरूप नहीं लगा. उनकी समझ थी कि मुक्तिबोध में न तो हर्ष है, न स्वीकार. फिर उनके काव्य संग्रह के लिए यह नाम नितांत असंगत ठहरता. इसलिए बहुत सोच-विचार कर संग्रह का नाम 'चांद का मुंह टेढ़ा है' रखा गया. यह संग्रह मुक्तिबोध की अचेतावस्था में छपा. वे इसे देख न पाए.
- इस एक घटना और निर्णय ने मुक्तिबोध को पढ़े जाने का एक कोण तय कर दिया जहां से पिछले पचास साल से मुक्तिबोध के पाठक उन्हें देखते रहे हैं. दिलचस्प यह है कि ये पाठक दूसरे मामलों में एक-दूसरे से मतभेद रखते हैं लेकिन इस पर उनकी सहमति है कि मुक्तिबोध की कविताओं की दुनिया दहशत, डर, आशंकाओं की दुनिया है. वे मनुष्य के मन के अंधेरे के कवि हैं. दोष भावना और अपराध बोध से उनकी कविताएं बिंधी हुई हैं.
-
- मुक्तिबोध का ज़िक्र आते ही 'अंधेरे में' की याद आती है. इस वजह से अंधेरापन मुक्तिबोध को परिभाषित करने वाले प्रत्यय में बदल गया है. नकार, निषेध, अभाव, शिकायत, आलोचना, चेतावनी ऐसे शब्द हैं, जो मुक्तिबोध को पहली बार पढ़ने वाले पाठकों के पास, जिनमें ख़ासकर हिंदी के छात्र शामिल हैं, कविता के पहले पहुंच जाते हैं. कुछ वैसे ही जैसे प्रेमचंद की किसी कहानी या उपन्यास को हाथ में लेने के पहले से ही यह मालूम रहता है कि वे एक यथार्थवादी, अर्ध मार्क्सवादी, अर्ध गांधीवादी, या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं. या, जैसे अज्ञेय अस्तित्ववादी हैं, यह धारणा उनकी रचना से पहले पाठकों के पास मौजूद होती है. इन धारणाओं के धुंधलके को पारकर रचना और लेखक का साक्षात्कार करने की यात्रा कई पाठकों के लिए बहुत लंबी और तकलीफ़देह होती है.
- अंधेरे का कवि कहने के साथ-साथ मुक्तिबोध को भारतीय जनतंत्र के साथ होने वाली दुर्घटना का भविष्यवक्ता भी मान लिया गया है. कहा जाता रहा है कि 'अंधेरे में' फ़ासिस्म की आशंका की कविता है. जिस वक़्त यह कविता लिखी गई, भारत में मुक्तिबोध के प्रिय नेहरू प्रधानमंत्री थे. नेहरू के बाद क्या होगा, यह आशंका तो थी लेकिन भारत में फ़ासिस्म आ सकता है, इसके इमकानात नहीं थे. मुक्तिबोध की एक किताब के ख़िलाफ़ अभियान और उस पर पाबंदी के कारण मुक्तिबोध को यह भयंकर आशंका थी कि कुछ ऐसा-वैसा हो सकता है. लेकिन यह अपने आप में पर्याप्त कारण नहीं कि आगे फ़ासिस्म की आशंका की जाए. फिर मुक्तिबोध की इस कविता को क्या सिर्फ़ भारतीय संदर्भ में ही समझा जाए, या इस प्रकार का विचार भी संभव है कि वे भारतीय संदर्भों के सहारे, जिनमें तिलक और गांधी भी हैं, जो कह रहे थे वह भारत तक सीमित न था?
- मुक्तिबोध की अन्य कविताओं से यह बात और भी ज़ाहिर होती है. वे अनुपयोग के कारण मुरझा गई मानवीय क्षमताओं की ट्रेजेडी की कथा कहते हैं. साथ-साथ बुद्धि के कारण मनुष्य के सुख-चैन छिन जाने की भी. मानवीय उत्तरदायित्व और उससे जुड़े कर्तव्य के अहसास की तीव्रता की अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में है. यह भी मात्र भारतीय संदर्भ तक सीमित क्यों माना जाए?
- जैसे मुक्तिबोध को अंधेरेपन का कवि कहा जाता रहा है, उसी तरह उन्हें मार्क्सवादी कहकर मान लिया जाता है कि इससे उनके बारे में सबकुछ समझ लिया गया है. मार्क्सवादी होने से किसी लेखक में क्या विशेष पैदा होता है जो उसमें नहीं है जो मार्क्सवादी नहीं है, विशेषकर उसकी कविता या कहानी में, यह अब तक स्पष्ट नहीं हो सका है. क्या यह सिर्फ़ विषय के चुनाव से ही पता चलेगा? तो क्या साहित्य में सारा कुछ विषय का चयन है?
- अगर साहित्य और उसमें भी कविता में भाषा प्रमुख है तो मार्क्सवाद उसे किस प्रकार प्रभावित करता है? प्रायः जनसाधारण की भाषा में लिखने को मार्क्सवादी होने का लक्षण और परिणाम, दोनों ही मान लिया जाता है. मार्क्सवाद रचनात्मक संवेदना को किस

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

प्रकार निर्णायक रूप में बदलता है, इसके बारे में ठीक-ठीक बात नहीं की गई है. इसी वजह से प्रेमचंद हों या निराला, मार्क्सवाद को इसका श्रेय दिया जाता है कि वे किसानों या मज़दूरों या जनसाधारण के दुःखदर्द और संघर्ष का चित्रण करते हैं

- मुक्तिबोध में भी अंधेरा ही अंधेरा और भीषण या भयानक देखना ऐसी ही प्रवृत्ति की वजह से है. जबकि उनमें उल्लास, कोमल और उदात्त का एक साथ निवास और दोनों की बेचैन तलाश, अपने वजूद की खोज के साथ बार-बार उसकी कठोर परख, और सबसे बढ़कर दोस्तों या मित्रों की खोज, सब कुछ है. वहां सिर्फ़ असुरक्षा जनित भय नहीं है.
- मुक्तिबोध कहते भी हैं कि ज़िंदगी मुश्किल है लेकिन इतनी मीठी कि जी चाहता है, एक घूंट में पी जाएं. उनका यह एक वाक्य ही उनकी कविता के स्वभाव को समझने के लिए दिए का काम कर सकता है.

भारतेंदु हरिश्चंद्र : आधुनिक हिंदी के पितामह जिनकी जिंदगी लंबी नहीं बड़ी थी

- बाबू मोशाय!!! जिंदगी लंबी नहीं...बड़ी होनी चाहिए...!' यह डायलॉग 1971 की चर्चित फिल्म 'आनंद' का है. फिल्म में कैंसर के मरीज बने राजेश खन्ना ने जिंदगी का यह फलसफा अपने दोस्त अमिताभ बच्चन को दिया था. लेकिन यह फलसफा हिंदी साहित्य की महान विभूति भारतेंदु हरिश्चंद्र पर भी सटीक बैठता है. उन्होंने सिर्फ 34 साल चार महीने की छोटी सी आयु में दुनिया को अलविदा कह दिया, लेकिन दुनिया छोड़ने से पहले वे अपने क्षेत्र में इतना कुछ कर गए कि हैरत होती है कि कोई इंसान इतनी छोटी सी उम्र में इतना कुछ कैसे कर सकता है. हमें मालूम हो या न हो लेकिन यह सच है कि आज का हिंदी साहित्य जहां खड़ा है उसकी नींव का ज्यादातर हिस्सा भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडली ने खड़ा किया था. उनके साथ 'पहली बार' वाली उपलब्धि जितनी बार जुड़ी है, उतनी बहुत ही कम लोगों के साथ जुड़ पाती है. इसलिए कई आलोचक उन्हें हिंदी साहित्य का महान 'अनुसंधानकर्ता' भी मानते हैं. ऐसी महान विभूति का जन्म नौ सितंबर, 1850 को हुआ था.

हिंदी साहित्य को आधुनिक बनाया

- भारतेंदु ने न केवल नई विधाओं का सृजन किया बल्कि वे साहित्य की विषय-वस्तु में भी नयापन लेकर आए. इसलिए उन्हें भारत में नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है. उनसे पहले हिंदी साहित्य में मध्यकाल की प्रवृत्तियां मौजूद थीं, इसलिए उनसे पहले का का साहित्य दुनियावी जरूरतों से बिल्कुल कटा हुआ था. साहित्य का पूरा माहौल प्रेम, भक्ति और अध्यात्म का था. इसे अपने प्रयासों से उन्होंने बदल डाला. उन्होंने हिंदी साहित्य को देश की सामासिक संस्कृति की खूबियों के साथ-साथ पश्चिम की भौतिक और वैज्ञानिक सोच से लैस करने की भरसक कोशिश की.
- आधुनिक विचार ईश्वर और आस्था की जगह मानव और तर्क को केंद्र में रखता है, इसलिए इसके प्रभाव में रचा गया साहित्य लौकिक जीवन से जुड़ा होता है. लेकिन उस समय का भारत गुलामी और मध्यकालीन सोच की जंजीरों में जकड़ा था. भारतेंदु पर भारतीय संस्कृति के अलावा आधुनिक और पश्चिमी विचारों का भी असर था. इसलिए वे साहित्य में बुद्धिवाद, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, न्याय और सहिष्णुता के गुण लेकर आए. उन्होंने अपनी लेखनी से लोगों में अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम की अलख जगाने का प्रयास किया.
- 1850 के आसपास के भारत में भ्रष्टाचार, प्रांतवाद, अलगाववाद, जातिवाद और छुआछूत जैसी समस्याएं अपने चरम पर थीं. हरिश्चंद्र बाबू को ये समस्याएं कचोटती थीं. इसलिए उन्होंने इन समस्याओं को अपने नाटकों, प्रहसनों और निबंधों का विषय बनाया. वे उन चंद शुरुआती लोगों में से थे जिन्होंने साहित्यकारों से आह्वान किया कि वे इस दुनिया की खूबियों-खामियों पर लिखें न कि परलोक से जुड़ी व्यर्थ की बातों पर. अपनी मंडली के साहित्यकारों की सहायता से उन्होंने नए-नए विषयों और विधाओं का सृजन किया. कुल मिलाकर उन्होंने पुरानी प्रवृत्तियों का परिष्कार कर नवीनता का समावेश करने की कोशिश की.

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

खड़ी बोली के सरल रूप को गद्य में स्थापित किया

- आलोचकों की नजर में भारतेंदु हरिश्चंद्र का दूसरा सबसे बड़ा योगदान हिंदी भाषा को नई चाल में ढालने का माना जाता है. उनसे पहले हिंदी भाषा में दो तरह के 'स्कूल' चलते थे. एक राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरा राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की फारसीनिष्ठ शैली का. दोनों ही शैलियां अपनी अति को छू रही थीं. एक हिंदी भाषा में संस्कृत के शब्दों को चुन-चुनकर डाल रही थी तो दूसरा फारसी के शब्दों को. हरिश्चंद्र बाबू ने इन दोनों प्रवृत्तियों का मिलन कराया. उन्होंने अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 1873 से हिंदी की नई भाषा को गढ़ना शुरू किया. इसके लिए उन्होंने खड़ी बोली का आवरण लेकर उसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया. वहीं तत्सम और उससे निकले तद्भव शब्दों को भी पर्याप्त महत्व दिया. इसके साथ ही उन्होंने कठिन और अबूझ शब्दों का प्रयोग वर्जित कर दिया. भाषा के इस रूप को हिंदुस्तानी शैली कहा गया, जिसे बाद में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने आगे और परिष्कृत किया. हालांकि कविता में वे खड़ी बोली के बजाय ब्रज का ही इस्तेमाल करते रहे.

हिंदी नाटक और रंगमंच के प्रवर्त्तक भी

- आलोचकों की नजर में भाषा के बाद भारतेंदु का सबसे बड़ा योगदान नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में रहा. उन्होंने पहली बार हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना की. अपने छोटे से जीवन में भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित मिलाकर 17 नाटक रचे. इसके अलावा वे एक अच्छे अभिनेता भी थे लिहाजा रंगमंच में भी उन्होंने कई प्रयोग किए. इसलिए उन्हें हिंदी का पहला आधुनिक नाटककार और मौलिक नाट्य चिंतक माना गया. उन्हें हिंदी नाटक का युग प्रवर्त्तक करार दिया गया.
- उन्होंने नाटक के कथानक को काफी विविध बना दिया. उनसे पहले के नाटक धार्मिक और भावुकता प्रधान थे. इसकी जगह उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक नाटक लिखे. इसके जरिए उन्होंने तार्किक चिंतन विकसित करने की कोशिश की. इनके लिखे भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति जैसे नाटक अभी भी मंचित हो रहे हैं. ये सभी प्रहसन की श्रेणी में भी आते हैं. हिंदी में पहली बार प्रहसन लिखने की शुरुआत इन्होंने ही की और उसे उसके शीर्ष तक भी पहुंचाया. इस विधा के जरिए उन्होंने समाज में गहरी पैठी समस्याओं पर व्यंग्य के माध्यम से करारा प्रहार किया था. इनका रंगमंच के क्षेत्र में काफी योगदान रहा. वेश, वाणी, अभिनय के स्वरूप और गीतों के स्वाभाविक प्रयोग आदि पर इन्होंने काफी काम किया. इन्होंने पारसी और पश्चिमी थिएटर के अति प्रभाव से दूर करते हुए हिंदी रंगमंच की स्थापना की.

उनका काव्य रचना-संसार बहुत विस्तृत था

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- भारतेंदु का काव्य रचना संसार बहुत विस्तृत था. इतनी छोटी सी उम्र में ही उन्होंने 21 काव्यग्रंथ, 48 प्रबंध काव्य और कई मुक्तक रच डाले थे. वे गद्य खड़ी बोली में लिखते थे लेकिन कविता के लिए उन्होंने ब्रज भाषा को चुना था. इस प्रवृत्ति को 'भाषा का द्वैध' कहा गया, जो इनके दो दशक बाद तक चलता रहा. भारतेंदु ने कहा कि कविता के लिए जिन भाव-बोधों की जरूरत होती है वे काफी प्रयास करने के बाद भी खड़ी बोली में नहीं आ सके. इसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की सीमा माना जाता है. हालांकि बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य कवि 1900 के बाद खड़ी बोली में भी सुंदर काव्य रचने में सफल रहे. वैसे उनकी कविता में कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय जैसे पारंपरिक छंदों के अलावा लावनी, कजली जैसी लोकप्रचलित शैलियों का भी जमकर प्रयोग हुआ.

वे एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे

- भारतेंदु एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे. उन्होंने बालाबोधनी, कविवचन सुधा और हरिश्चंद्र मैगजीन (बाद में हरिश्चंद्र पत्रिका) जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन और संपादन कर साहित्य से अलग विषयों और समस्याओं पर लिखा. इन पत्रिकाओं के जरिए उन्होंने न केवल नई किस्म की भाषा का विकास किया बल्कि आधुनिक भारत की समस्याओं पर भी खुलकर चिंतन किया. वे इन पत्रिकाओं के जरिए अक्सर

देशप्रेम विकसित करने की कोशिश किया करते थे. हरिश्चंद्र बाबू ने इन पत्रिकाओं के लिए ढेरों निबंध, आलोचना और रिपोर्ताज लिखे. आलोचकों के अनुसार इन विधाओं की स्थापना भारतेंदु और इनके साथियों के प्रयासों से ही हुई. अपनी पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखे अपने लेखों से उन्होंने अन्य लेखकों को भी प्रेरित किया. आलोचकों के अनुसार उनके साथी बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की लेखनी पर भारतेंदु का स्पष्ट प्रभाव दिखता था. उन्होंने दिखाया कि कैसे साहित्य से इतर विधाओं में भी आम-जीवन से जुड़े विषयों पर लिखा जा सकता है. इन वजहों से उनकी पत्रिका लोगों में हिंदी के प्रति अभिरुचि विकसित करने में कामयाब हुई.

- हरिश्चंद्र बाबू का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी था. उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में योगदान दिया विशेषकर गद्य साहित्य में. आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी विधाओं के बीज इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं. इन्होंने अपने को किसी एक विधा तक सीमित नहीं रखा था. वे 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामक उपन्यास भी लिख रहे थे, लेकिन असमय निधन से वे यह काम पूरा न कर सके. उनका यह सपना बाद में उनके साथी श्रीनिवास दास ने हिंदी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' लिखकर पूरा किया. ऐसी अद्वितीय प्रतिभा दुर्भाग्य से अपने जीवन के चौथे ही दशक में छह जनवरी, 1885 को दुनिया से कूच कर गई.

रामधारी सिंह 'दिनकर' : कवि जो सत्ता के करीब रहकर भी कभी जनता से दूर नहीं हुआ

- रामधारी सिंह 'दिनकर' (23 सितंबर 1908- 24 अप्रैल 1974) अपने समय के ही नहीं बल्कि हिंदी के ऐसे कवि हैं, जो अपने लिखे के लिए कभी विवादित नहीं रहे, जिंदगी के लिए भले ही थोड़े-बहुत रहे हों. वे ऐसे कवि रहे जो एक साथ पढ़े-लिखे, अपढ़ और कम पढ़े-लिखों में भी बहुत प्रिय हुए. यहां तक कि अहिंदी भाषा-भाषियों के बीच भी वे उतने ही लोकप्रिय थे. पुरस्कारों की झड़ी भी उनपर खूब होती रही, उनकी झोली में गिरनेवाले पुरस्कारों में बड़े पुरस्कार भी बहुत रहे - साहित्य अकादमी पुरस्कार, पद्मविभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार इस बात की तस्दीक खुद करते हैं. बावजूद इसके वे धरती से जुड़े लोगों के मन को भी उसी तरह छूते रहे.
- हिंदी साहित्य के इतिहास में कि ऐसे लेखक बहुत कम हुए हैं जो सत्ता के भी करीब हों और जनता में भी उसी तरह लोकप्रिय हों. जो जनकवि भी हों और साथ ही राष्ट्रकवि भी. दिनकर का व्यक्तित्व इन विरोधों को अपने भीतर बहुत सहजता से साधता हुआ चला था. वहां अगर भूषण जैसा कोई वीर रस का कवि बैठा था, तो मैथिलीशरण गुप्त की तरह लोगों की दुर्दशा पर लिखने और रोनेवाला एक राष्ट्रकवि भी. हालांकि दिनकर छायावाद के तुरंत बाद के कवि थे पर आत्मा से वे हमेशा द्विवेदीयुगीन कवि रहे.
- दिनकर और हरिवंशराय बच्चन दोनों समकालीन थे. समकालीनों के बीच की जलन और प्रतिस्पर्धा किसी के लिए भी छिपी हुई बात नहीं. पर दिनकर ऐसे कवि थे जो अपने समकालीनों के बीच भी उतने ही लोकप्रिय थे. दिनकर को जब उर्वशी के लिए ज्ञानपीठ मिला तो किसी आग-लगाऊ पाठक ने बच्चन जी को पत्र लिखकर पूछा कि - 'क्या यह एक सही निर्णय था. बच्चन जी दिनकर को मिले इस पुरस्कार के सन्दर्भ में क्या सोचते हैं.' इसपर बच्चन जी का जवाब था, 'दिनकर जी को एक नहीं बल्कि गद्य, पद्य, भाषा और हिंदी के सेवा के लिए अलग-अलग चार ज्ञानपीठ मिलने चाहिए थे.'
- उनके समकालीन लेखकों में से एक और समकालीन रामवृक्ष बेनीपुरी जी की मान्यता थी कि - 'दिनकर ने देश के क्रांतिकारी आंदोलनों को अपना स्वर बखूबी दिया.' नामवर सिंह के अनुसार – 'दिनकर अपने युग के सचमुच के सूर्य थे.' यथार्थ और मध्यमवर्गीय समाज को अपनी रचनाओं के केंद्र में लेकर चलनेवाले लेखक राजेंद्र यादव कहते थे – 'दिनकर जी की रचनाओं से मैं किशोरावस्था से ही बहुत प्रभावित रहा.' राजेंद्र यादव दिनकर से किस हद तक प्रभावित थे यह इस वाकये से समझा जा सकता है. दिनकर की बड़ी प्रसिद्ध पंक्तियां हैं - 'सेनानी करो प्रयाण अभय सारा इतिहास तुम्हारा है / अब नखत निशा के सोते हैं सारा आकाश तुम्हारा है.' राजेंद्र जी ने जब अपने उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' फिर से लिखना तय किया तो उसका शीर्षक दिनकर की इन्हीं पंक्तियों से लिया था. शीर्षक था - 'सारा आकाश'
- दिनकर के शब्दों की ही यह शक्ति थी कि लोगों के बीच वे कहावतों और लोक-श्रुतियों की तरह प्रचलित हुए. उन्हें अपनी बातों में उद्धृत करने वाले किसान और मजदूर तक होते हैं. इसका एक कारण जहां उनका किसानों के घर से आना था वहीं दूसरा सीधी सरल भाषा को भी बहुत प्रभावी ढंग से प्रयोग किया जाना भी था. तीसरी इसे लोकप्रिय बनानेवाली उनकी संबोधनात्मक शैली रही. 1933 में जब उन्होंने पहली बार किसी कवि सम्मेलन (बिहार हिंदी कवि सम्मलेन) में मच्छरों के काटने से जागने के कारण एक रात पूर्व

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

लिखी हुई कविता – 'मेरे नगपति, मेरे विशाल' पढ़ी तो दर्शक जैसे उन्हें बार-बार सुनने के लिए पागल हो गए. उन्होंने भी आमलोगों की फरमाइश पर इस कविता को चार बार सुनाया.

- स्वतन्त्रतापूर्व के इस विद्रोही कवि और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के इस राष्ट्रकवि ने देश में नवजीवन के संचार के लिए शुरू में 'परशुराम' और 'कर्ण' जैसे उपेक्षित पात्रों को चुना, वीरता और पुरुषार्थ जिनका निज स्वभाव थी. इनका 'कुरुक्षेत्र' भी महाभारत की कहानी को केंद्र में लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया. कुरुक्षेत्र कहता है कि - युद्ध कोई नहीं चाहता, लेकिन जब युद्ध के सिवाय और कोई चारा नहीं हो तो लड़ना ही आखिरी विकल्प है. अंग्रेजी सरकार की नौकरी के बावजूद उनका रवैया सदा उस शासन के विरुद्ध रहा. सरकार को भी यह महसूस होने लगा था कि वे शासन विरोधी हैं. इसका उदाहरण चार साल के वक़्त के बीच हुए उनके 22 तबादले हैं और बार-बार उनकी पेशी भी. 'हुंकार' के लिए जब उन्हें कहा गया कि उन्होंने इसे लिखने के लिए इजाजत क्यों नहीं ली, तो उनका साफ़ जवाब यह था – 'मेरा भविष्य इस नौकरी में नहीं साहित्य में है और इजाजत लेकर लिखने से बेहतर मैं यह समझूंगा कि मैं लिखना छोड़ दूं.'
- दरअसल दिनकर का मुख्य सरोकार जनता के लिए था, उनके दुःख दर्द लिखने, उनकी पीड़ा कहने से था. उनके दुख और बदहाली उन्हें हर हाल में उद्वेलित करते रहे, आजादी के बाद अपने शासन काल में भी. वे जब राज्यसभा सदस्य बने तो संसद में जाने से पहले नेहरू जी ने उन्हें किसी कविता का पाठ करने को कहा था. निर्भीक दिनकर उस वक़्त भी अपनी बात कहने से नहीं चूके. 'भारत का रेशमी नगर' दिल्ली और राजनीतिज्ञों को केंद्र में रखकर लिखी गई वही कविता थी, जिसमें इस शासन काल में भी किसानों मजदूरों और आम लोगों के दुख की बात कही गई थी.
- दिनकर वह पहले लेखक थे जो अपने लेखन के सबसे बड़े आलोचक थे. वे समय-समय पर अपने लिखे की विवेचना और पड़ताल करते रहते थे. यही कारण है कि उनकी शैली में समय-समय पर बदलाव आते रहे. एक लेखक अगर परिवर्तनजीवी न हो तो वह मरा हुआ लेखक होता है. दिनकर को देखकर इस बात की तस्दीक और ज्यादा होती है. शुरू के ओजस्वी कवि, 'उर्वशी' के रचयिता बिलकुल नहीं लगते और 'उर्वशी' का रचनाकार 'हारे को हरिनाम' का कवि नहीं लगता.
- दिनकर का 'संस्कृति के चार अध्याय' जहां देश से संबंधित सारगर्भित लेखों का जखीरा है, वहीं उन्होंने बच्चों के लिए भी कुछ अद्भुत मनोहारी कविताएं लिखीं. 'चांद का कुर्ता', 'सूरज की शादी', 'चूहे की दिल्ली यात्रा' कुछ ऐसी ही बहुत मनोरंजक और प्रेरक बाल-कविताएं हैं. उनके समकालीनों में से शायद ही कोई हो जिन्होंने बाल रचनाएं भी इस लगाव से लिखीं -'अगर सूर्य ने ब्याह किया, दस पांच पुत्र जन्मेगा / सोचो तब उन पुत्रों का ताप कौन सहेगा / अच्छा है सूरज कुंवारा है, वंशहीन अकेला है / इस प्रचंड का ब्याह जगत के खातिर एक झमेला है.' इन पंक्तियों से यह साबित तो होता है कि इस लेखक के दायरे से बाहर कोई नहीं था, उन्हें चिंता और लगाव था तो किसी एक से नहीं वरन सभी से.
- उर्वशी की शैली तो दिनकर के लेखन से इतनी भिन्न थी कि खुद वे इसके लिखे जाने पर अचरज करते थे. इसके लिखे जाने के वक़्त तक वे काफी अस्वस्थ रहने लगे थे. डॉक्टरों ने उन्हें लिखने के लिए एकदम मना कर दिया था. मूर्छा आना इसका मुख्य कारण था. उनकी चिरौरी पर डॉक्टरों ने यह इजाजत दी कि जब मूर्छा छाने लगे वे थोड़ी शहद चाट लें इससे मूर्छा का असर कम हो जाएगा. पर यह बार-बार करके भी लिखना उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत खतरनाक था. दिनकर जी के अनुसार उन्होंने यह पूरी किताब एक तंद्रा में ही लिखी थी. और यह कब और कैसे लिखी, जैसे खुद उनकी समझ के भी बाहर की बात थी. इस आश्चर्य को दिनकर जी की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है - मैं घोर चिन्तना में धंसकर, पहुंचा भाषा के उस तट पर / था जहां काव्य यह धरा हुआ / सब लिखा लिखाया पड़ा हुआ / बस झेल गहन गोते का सुख / ले आया इसे जगत सम्मुख.
- 'उर्वशी' प्रेम, वासना और अध्यात्म का अद्भुत संगम है. यह पुरुरवा और उर्वशी की कहानी है जो महाभारत के शान्ति पर्व से उठाई गई थी. इसमें मानव होने को देवदूत और ईश्वर से बहुत ऊपर रखा गया. इस वक़्त तक दिनकर के जीवन में अध्यात्म का प्रवेश भी होने लगा था. वे महर्षि रमण और अरविंद आश्रम के चक्कर लगाने लगे थे. अध्यात्म का भी उनके जीवन में अकस्मात प्रवेश नहीं हुआ. जगत जीतते दिनकर दरअसल अपने निजी मोर्चे पर लगातार हार रहे थे. उनका पत्नी के साथ वैचारिक असामंजस्य था. 13 वर्ष की अल्पायु में हुई शादी इसका मुख्य कारण था (हालांकि इस रिश्ते को उन्होंने आजीवन फिर भी निभाया). फिर बेटियों, पोतियों के

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

विवाह की चिंता, घर का अधिकतर भार सहकर उन्हें लेखन और लेखकीय यात्राओं के लिए तत्पर करनेवाले बड़े बेटे की असामयिक मृत्यु जैसे दुख लगातार उन्हें अध्यात्म की ओर धकेलते रहे.

- दुख और तकलीफों के पहाड़ों के बीच उनकी हुंकार और ओज अब कहीं खोने लगी थी. अपने समय का यह सूर्य अब अस्ताचल में डूबने को ही था. 'हारे को हरिनाम' की वह पराजित, दुविधाओं और द्वन्द से भरी आवाज कहीं से भी नहीं लगती कि इसी आवाज ने कभी हुंकार-भरकर जनजन के आक्रोश को स्वर दिया था और उसमें नई शक्ति का संचार किया था.
- हालांकि जीवन अनुभव और यथार्थ यहां भी है और ये कवितायें जीवन के बहुत करीब की कविताएं हैं. ओजस्वी दिनकर जिन्दगी में रूमानी और साफ दिल थे, जिसका उदहारण सिर्फ 'रसवंती', 'उर्वशी' ही नहीं, वे सारी स्त्रियां भी हैं, जो क, ख, ग के नाम से उनकी डायरी में वर्णित हैं. यह उनकी साफदिली ही थी कि डायरी के प्रकाशन के समय उन्होंने इसे हटाया नहीं, बल्कि वे तो चाहते थे स्त्रियों का असल नाम यहां दिया जाए पर उनके कुछ लेखक मित्रों के सुझाव से इन नामों को क, ख, ग की शक्ल अख्तियार करनी पड़ी. वे मानते थे, 'जब हम और आप एक ही नाव के सवार हैं तो शर्म कैसी और झिझक कैसी?'

जब दिनकर ने लिखा, 'मानवता की जो कब्र वही गांधी की भी होगी समाधि...'

- आज रामधारी सिंह दिनकर को याद करने का दिन है. सब उन्हें उनकी ओजमयी कविताओं के माध्यम से याद कर रहे हैं. जैसे महात्मा गांधी अब गुजरते हर दिन के साथ प्रासंगिक होते जा रहे हैं, ठीक यही बात दिनकर जी द्वारा उनके ऊपर लिखी कविताओं के बारे में कही जा सकती है. और इसलिए रामधारी सिंह दिनकर पर अलग से बात करने की जरूरत है.
- जून, 1947 में दिनकर का एक काव्य-संग्रह छपा. केवल चार कविताओं वाले इस संग्रह का नाम था- 'बापू'. इसके छह महीने के भीतर ही गांधी की हत्या हो गई. उनकी हत्या के बाद दिनकर का हृदय क्षोभ से भर उठा. उनकी कलम फिर से चल पड़ी. जीवित गांधी के प्रति व्यक्त किए गए अनुराग भरे शब्दों में उनके कुछ और कठोर शब्द भी जुड़ते चले गए. इन शब्दों का स्रोत थी गांधी की हत्या से उपजी मर्मांतक पीड़ा और आत्मग्लानि. जल्दी ही इस संग्रह का दूसरा संस्करण मई, 1948 में छापा गया.
- यह वह दौर था जब देश में जगह-जगह सांप्रदायिकता की आग लगी हुई थी. भारत का भौगोलिक और राजनीतिक विभाजन भारतीय समाज के द्वेषपूर्ण विभाजन का भी दंश लेकर आया था. द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाशकारी परिणामों को पूरी दुनिया भुगत रही थी. हिंसा के इस विकट दौर में केवल बूढ़े गांधी ही थे जो अहिंसा, प्रेम और करुणा की अलख जगाने में लगे हुए थे.
- दिनकर जैसा अपेक्षाकृत युवा इसे देखकर अभिभूत था. कहते हैं दिनकर ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रोपगेंडा विभाग में भी कार्य किया था. युद्ध की विभीषिका और इससे जुड़े साम्राज्यवादी और कूटनीतिक छल-प्रपंच को उन्होंने निकट से देखा था. इसलिए दिनकर के काव्य-सृजन का एक बड़ा हिस्सा युद्धमात्र के खिलाफ ही रचा गया है. असल वीरता और वीरता में छिपी कायरता के बीच के बारीक फर्क को दिनकर ने गांधी के माध्यम से ही समझा था. इसलिए उनकी यह किताब गांधी के बहाने हिंसा और द्वेष की प्रवृत्ति की तहें उधेड़ने वाली थी. तत्कालीन भयावह परिस्थितियों का चित्रण उनकी इन पंक्तियों में मिलता है-

THE CORE IAS
(A unit of just dream)
www.thecoreias.com

'देवालय सूना नहीं, देवता हैं, लेकिन, कुछ डरे हुए ;
दानव के गर्जन-तर्जन से कुछ भीति-भाव में भरे हुए।'

- लेकिन इस डर को दूर भगाएगा कौन? तो वे गांधी के लिए कहते हैं, 'मानवता का मरमी सुजान आया तू भीति भगाने को'। लेकिन लाठी टेककर चलने वाला एक बूढ़ा कैसे यह सब कर सकेगा? इस पर वे कहते हैं -'तू चला, तो लोग कुछ चौंक पड़े, 'तूफान उठा या आंधी है?'
ईसा की बोली रूह, अरे! यह तो बेचारा गांधी है '
- दिनकर की अन्य कविताओं की भांति ही इस कविता में भी दिनकर के उन्हीं शब्दों, भावों और उपमाओं के दर्शन होते हैं जो उनकी विशेष पहचान रही है. वही ओज, वही जोश, वही तीव्रता, उग्रता और आवेग यहां भी देखने को मिलते हैं. दिनकर भी अपनी इस शैली को खूब पहचान चुके थे. इसलिए इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा था- 'कविता का एकाध अंश ऐसा है जिसे स्वयं

बापू, शायद, पसंद नहीं करें. किन्तु, उनका एकमात्र वही रूप तो सत्य नहीं है जिसे वे स्वयं मानते हों. हमारे जातीय जीवन के प्रसंग में वे जिस स्थान पर खड़े हैं वह भी तो भुलाया नहीं जा सकता.'

- तो दिनकर की नज़र में जातीय जीवन के प्रसंग में गांधी किस स्थान पर खड़े हैं? यह इस संग्रह में जगह-जगह अपने-आप उद्घाटित होता जाता है. वह जातीय प्रसंग अथवा सामाजिक और राष्ट्रीय प्रसंग भय, अशांति, घृणा और हिंसा का है, जिसमें गांधी ही उन्हें एकमात्र आशा की किरण नज़र आते हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति मात्र से भय और हिंसा दूर भागती है. मनुष्य तो मनुष्य पशु-पक्षी को भी गांधी की उपस्थिति में निर्भयता और निश्चिन्तता का अनुभव होता है. दिनकर कहते हैं -

'कोई न भीत, कोई न त्रस्त; सब ओर प्रकृति है प्रेम भरी,
निश्चिन्त जुगाली करती है, छाया में पास खड़ी बकरी।'

- कवि दिनकर को गांधी में सबसे ज्यादा क्या आकर्षित करता है? कवि कहता है कि प्रखर बुद्धिवाले मेधावी लोग ही इस दुनिया के लिए संकट बन चुके हैं. वह ज्ञानमात्र पर प्रश्नचिह्न लगाता है. कवि को ईसा और गांधी जैसों की सरलता और उनका त्याग और प्रेम ही आकर्षित करता है. दिनकर कहते हैं -

मानवता का इतिहास, युद्ध के दावानल से छला हुआ,
मानवता का इतिहास, मनुज की प्रखर बुद्धि से छला हुआ।
मानवता का इतिहास, मनुज की मेधा से घबराता सा,
मानवता का इतिहास, ज्ञान पर विस्मय-चिह्न बनाता सा।

और जब मनुष्य अपने ही बनाए इस जाल में फंस जाता है. तो गांधी जैसे संतो-महात्माओं की ओर दौड़ता है. कवि कहता है -

मानवता का इतिहास विकल, हांफता हुआ, लोहू-लुहान;
दौड़ा तुझसे मांगता हुआ, बापू! दुःखों से सपदि त्राण।

लेकिन क्या गांधी जैसे व्यक्तियों का जीवन जीना आसान होता है. नहीं, बिल्कुल नहीं. उस पर भी उंगलियां उठती हैं, आक्षेप किया जाता है. ऐसे व्यक्तित्वों को भी उकसाया जाता है कि वे प्रतिक्रिया करें. लेकिन यही तो उनकी परीक्षा होती है, और ऐसी परीक्षाओं को गांधी जैसे लोग सहज ही पार कर जाते हैं. कवि इसका साक्षी बनकर कहता है -

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

ली जांच प्रेम ने बहुत, मगर बापू तू सदा खरा उतरा,
शूली पर से भी बार-बार, तू नूतन ज्योति भरा उतरा।

प्रेमी की यह पहचान, परुषता को न जीभ पर लाते हैं;
दुनिया देती है जहर, किन्तु, वे सुधा छिड़कते जाते हैं।

जाने, कितने अभिशाप मिले, कितना है पीना पड़ा गरल,
तब भी नैनों में ज्योति हरी, तब भी मुख पर मुस्कान सरल।

दिनकर गांधी की एक ऐसी जीवंत तस्वीर खींचते हैं, मानो उस तस्वीर से गांधी की देह नहीं, बल्कि उनके विचार, उनके जीवनादर्श प्रकट होते जाते हैं. यहां गांधी एक ऐसे महामानव के रूप में उभरते हैं जिनके सामने कवि स्वयं को बहुत ही छोटा पाता है. श्रद्धावनत् होकर वह कह उठता है -

'सामान्य मृत्तिका के पुतले, हम समझ नहीं कुछ पाते हैं,
तू ढो लेता किस भांति पाप जो हम दिन-रात कमाते हैं।'

कितना विभेद! हम भी मनुष्य, पर, तुच्छ स्वहित में सदा लीन,
पल-पल चंचल, व्याकुल, विषण्ण, लोहू के तापों के अधीन।

पर, तू, तापों से परे, कामना-जयी, एकरस, निर्विकार,
पृथ्वी को शीतल करता है, छाया-द्रुम-सी बाहें पसार।'

कवि को लगता है कि गांधी संघर्ष का एक नया तरीका दुनिया को सिखाने आए हैं. उसे आश्चर्य होता है कि जिस साम्राज्यवादी सत्ता को बड़ी-बड़ी सेनाएं नहीं हरा सकीं, उससे यह एक अर्द्धनग्न आदमी बिना किसी हथियार के लोहा ले रहा है. यहां एक फिर से वह बहुत ही उद्‌भुत तरीके से प्रतीकात्मक रूप में गांधी की बकरी का इस्तेमाल करते हैं -

विस्मय है जिस पर घोर, लौह-पुरुषों का कोई बस न चला,
उस गढ़ में कूदा दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला।

सारे संबल के तीन खण्ड, दो वसन, एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं की प्रतीक, पीछे चलने वाली बकरी।

लेकिन समय की भयावहता कवि को बार-बार डरा देती है. वह डरता है कि कहीं गांधी इन शक्तियों ने हार न जाएं. यदि गांधी सचमुच हार गए, तो क्या होगा? इसपर कवि कहता है -

बापू जो हारे, हारेगा जगतीतल का सौभाग्य-क्षेम,
बापू जो हारे, हारेंगे श्रद्धा, मैत्री विश्वास प्रेम।

श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, ममता, सत्यता, स्नेह, करुणा अथोर,
सबको सहेजकर बापू ने, सागर में दी है नाव छोड़।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

कवि ने बापू से इतने अपनापन का नाता जोड़ लिया है कि उसे बहुत कुछ साधिकार कहने का मन करता है. कवि की ये पंक्तियां बहुत छूने वाली हैं -

बापू! मैं तेरा समयुगीन; है बात बड़ी, पर कहने दे ;
लघुता को भूल तनिक गरिमा के महासिंधु में बहने दे।

यह छोटी सी भंगुर उमंग, पर, कितना अच्छा नाता है,
लगता है पवन वही मुझको, जो छूकर तुमको आता है।

गांधी की हत्या के अगले दिन यानि 31 जनवरी, 1948 को लिखी गई एक कविता में दिनकर आत्मग्लानि भरे स्वर में कहते हैं -

लौटो, छूने दो एक बार फिर अपना चरण अभयकारी,
रोने दो पकड़ वही छाती, जिसमें हमने गोली मारी।

गांधी के हत्या में कवि स्वयं को भी दोषी करार देता है. लेकिन गांधी के असली हत्यारे उससे छिपे हुए नहीं हैं. कवि जानता है कि गांधी का हत्यारा कोई एक नहीं था. कई थे. गांधी का हत्यारा बल्कि कोई व्यक्तिमात्र नहीं था. उनकी हत्यारन तो एक संगठित विचारधारा थी. एक प्रवृत्ति थी. वह प्रवृत्ति थी द्वेष की, वह विचारधारा थी घृणा की. इस जहरीली विचारधारा से विषाक्त हो चुके वातावरण का वर्णन कवि ने इसी संग्रह में अन्यत्र करते हुए कहा है -

जल रही आग दुर्गन्ध लिये, छा रहा चतुर्दिक विकट धूम,
विष के मतवाले, कुटिल नाग, निर्भय फण जोड़े रहे घूम।

गांधी की मृत्यु पर अघटन घटना, क्या समाधान? शीर्षक से लिखी गई कविता में कई जगह पर इस विडंबना पर जोर देते हैं कि हत्यारा 'हिन्दू' था. कहते हैं, 'कहने में जीभ सिहरती है, मूर्च्छित हो जाती कलम, हाय, हिन्दू ही था वह हत्यारा।' अन्यत्र कहते हैं, 'गोली से डाला मार उन्हें, उन्मत्त एक हत्यारे ने, जो हिन्दू था।' एक स्थान पर फिर से पूछते हैं, 'हिन्दू भी करने लगे अगर ऐसा अनर्थ, तो शेष रहा जर्जर भू का भवितव्य कौन?'

और एक स्थान पर तो क्षोभ में भरकर कह उठते हैं -

लिखता हूं कुंभीपाक नरक के पीव कुण्ड में कलम बोर,
बापू का हत्यारा पापी था कोई हिन्दू ही कठोर।

कवि को विश्वास है कि गांधी के हत्यारे यदि अब भी गांधी से क्षमा मांग लें, तो उन्हें क्षमा मिल जाएगी. हत्यारों के हृदय-परिवर्तन की आशा लिए वह आह्वान करता है कि अब भी बापू को पहचानो. गांधी की हत्या के सात दिन बाद लिखी इस कविता में दिनकर कहते हैं -

रो-रो कर मांगो क्षमा, अश्रु से करो पितृ-शव काऽभिषेक,
अगुणी, कृतघ्न जन के अब भी हैं बापू ही आधार एक।

पहचानो, कौन चला जग से? पापी! अब भी कुछ होश करो
गति नहीं अन्य, गति नहीं अन्य, इन चरणों को पकड़ो, पकड़ो।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

गांधी के प्रति दिनकर के इन भावों की प्रामाणिकता उनका गांधी के समयुगीन होने में भी है. इसे उन्होंने बार-बार कहा भी है. इतना तक कि एक स्थान पर कवि का मन गद्गद् होकर कह उठता है, 'है धन्य विधाता! जिसने गांधी-युग में हमको जन्म दिया।'

गांधी की हत्या को दिनकर मानवता की हत्या करार देते हुए कहते हैं, 'मानवता की जो कब्र वही गांधी की भी होगी समाधि।' लेकिन अब तो उनकी हत्या हो गई. अब हम क्या करें? दिनकर इस कविता में अन्यत्र इसका समाधान देते हुए कहते हैं -

'बापू ने राह बना डाली, चलना चाहे संसार चले,
डगमग होते हों पांव अगर तो पकड़ प्रेम का तार चले।'

भारत में गांधी-युग के बाद के युग में हम कहां तक पहुंचे हैं? चौतरफा हिंसा, कपट, घृणा, अविश्वास और संवादहीनता के वातावरण में आज यदि दिनकर जीवित होते, तो क्या फिर से वह इसी प्रेम का ऐसे ही मुक्तकंठ से आह्वान नहीं करते? लेकिन क्या उनका यह आह्वान भांति-भांति के जयकारों की शोर में दब नहीं जाता? अंध-जयकारों के इस युग में हम गांधी की ही तरह दिनकर की भी जय-जयकार भले ही कर सकते हों, लेकिन उनके प्रेमाह्वान को सुनने, समझने और आत्मसात करने की मंशा, धैर्य और ईमानदारी कहां से लाएंगे?

हिंदी पहले राष्ट्रीय तो बने, अंतरराष्ट्रीय अपने आप बन जाएगी

- आबादी के लिहाज से दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा और सभ्यता-संस्कृति की दृष्टि से सबसे पुराना देश भारत अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी उनकी दी हुई अंग्रेजी की बड़े गर्व से गुलामी बजा रहा है. उसने सरकारी कामकाज की भाषा बनाकर उसे सर्वोच्च सिंहासन पर बिठा रखा है. यहां तक कि भारत का संविधान भी मूल रूप से अंग्रेजी में ही लिखा गया है. विवाद की स्थिति में अंग्रेज़ी शब्दावली को ही वैध माना जायेगा, हिंदी अनुवाद को नहीं.
- संविधान में कहा गया था कि 1965 में अंग्रेज़ी का स्थान हिंदी ले लेगी. तमिलनाडु के कट्टर हिंदी-विरोधियों की कृपा से सरकारी कामकाज आज तक न केवल मूलतः अंग्रेज़ी में ही हो रहा है. स्वयं हिंदीभाषियों के बीच भी - या तो हीनताग्रंथि के कारण या फिर शेखी बघारने के जोश में - अपना निजी कामकाज भी यथासंभव अंग्रेज़ी में ही करने की प्रवृत्ति हावी हो गयी है. लोगों के लेटरपैड, विज़िटिंग (परिचय) कार्ड, शादी-ब्याह के निमंत्रणपत्र, दुकानों-कार्यालयों के नामपट्ट और सामान बेचने-ख़रीदने की रसीदें तक, बिना किसी अनिवार्यता के, अंग्रेज़ी में ही लिखने का रिवाज़ बनता गया है.
- टुटपुंजिए माता-पिता भी अपने बच्चों को बड़े शौक से अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में भेज रहे हैं. हिंदी लिखने-पढ़ने-बोलने में जिन्हें जितनी शर्म आती है, वे उतने ही ऊंचे स्वर में हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने का नारा लगाते हैं. खुद तो हिंदी को हेठी समझते हैं और चाहते हैं कि सारी दुनिया हिंदी सीखे!
- जो देश आज़ादी के सात दशक बाद भी अंग्रेज़ी के मोहजाल में इस तरह फंसा हो कि उसकी अपनी ही सबसे बड़ी भाषा का कथित स्वतंत्र मीडिया भी, वाक्यरचना के समय सहज-स्वाभाविक देशज शब्दों को हटा कर अंग्रेज़ी के शब्द ठूंसने लगे, तो फ़िर विदेशी, बैसाखियों के सहारे चलने वाली एक ऐसी आधी-अधूरी लंगड़ी भाषा सीखने में समय व संसाधन बर्बाद क्यों करें? वे अंग्रेज़ी के अपने अधूरे या पूरे ज्ञान से ही काम चलाने की क्यों न सोचें? कम से कम यूरोपीय तो यही सोचते हैं और प्रायः पूछते भी हैं कि भारतीयों में अपनी भाषा से लगाव और आत्मसम्मान की इतनी कमी क्यों होती है? उन्हें आश्चर्य होता है कि हज़ारों वर्षों की अपनी सभ्यता का दावा करने वाला भारत इन हज़ारों वर्षों में अपनी कोई सर्वमान्य भाषा क्यों नहीं बना पाया? मुझ से जर्मनी में कई बार यही पूछा जाता है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

अंग्रेज़ी के प्रति दास-मानसिकता

- अंग्रेज़ी के प्रति भारतीयों की दास-मानसिकता और हिंदी को लेकर हीन-भावना के दो उदाहरण इस संदर्भ में अनुचित न होंगे. बात 1990 वाले दशक के अंत की है. जर्मन विश्वविद्यालयों में हिंदी के छात्र व्यावहारिक अनुभव पाने के लिए 'रेडियो डॉएचे वेले' के हिंदी कार्यक्रम में आया करते थे. मैं उस समय हिंदी विभाग का प्रमुख था. हिंदी की एक ऐसी ही छात्रा ने एक दिन मुझे बताया कि दो भारतीयों ने एक बार उसे इसलिए बुरी तरह से डांट दिया कि उसने उनसे हिंदी में बात करने की हिम्मत कर ली!
- उसने बताया कि वह एक बार कोलोन के एक व्यापार मेले में होस्टेस और दुभाषिये का काम कर रही थी. हिंदी जानने के कारण उसे एक भारतीय स्टॉल पर भेजा गया. स्टॉल के मालिक दो भारतीय सज्जन थे. उसने हिंदी में जैसे ही अपना परिचय देना शुरू किया, दोनों एकदम बरस पड़े! वह समझती क्या है कि उन्हें अंग्रेज़ी नहीं आती? वे अनपढ़ हैं कि उनसे हिंदी बोल रही है? उसे माफ़ी मांगनी

पड़ी और कहना पड़ा कि वह उनसे अंग्रेज़ी में ही बात करेगी, हिंदी का नाम तक नहीं लेगी. उस छात्रा ने बताया कि देखने-सुनने में दोनों दक्षिण नहीं, उत्तर भारत के ही लगते थे, यानी हिंदी उन्हें ज़रूर आती थी!

'अंग्रेजी पढ़े-लिखों की, हिंदी गंवारों की भाषा'

- भारत में लंबे समय तक बीबीसी के संवाददाता रहे मार्क टली का जन्म भारत में ही हुआ था. वे भारत के नागरिक बनकर वहीं बस भी गये हैं. हिंदी बहुत अच्छी बोलते हैं. उनका अनुभव भी यही है कि भारत में अंग्रेजी को पढ़े-लिखे लोगों की और हिंदी को अनपढ़ गंवारों की भाषा समझा जाता है. एक इंटरव्यू में उनका कहना था, 'मैं तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करता हूं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं." इससे तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि भारतीयों को 'हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी ही बोलनी चाहिये!' उनका कहना है कि भारतीयों की मानसिकता के लिए यही सही है कि वे अंग्रेज़ी ही पढ़ें-लिखें और बोलें.
- यूरोप में ऐसी मानसिकता को दास-मानसिकता कहा जाता है. इस मानसिकता के पीछे भारत की दासता का लंबा इतिहास तो है ही, उसके बने रहने में स्वतंत्रता के बाद सबसे लंबे समय तक राज कर चुकी अंग्रेज़ी नामधारी 'कांग्रेस' पार्टी की भाषा और शिक्षा नीति का भी कुछ कम योगदान नहीं है. किंतु सबसे बड़ा विरोधाभास तो यह है कि अपनी स्वतंत्रता और निर्भीकता का ढिंढोरा पीटने वाला हिंदी मीडिया भी, 1990 वाले दशक से, अपनी भाषा में अनायास ही अंग्रेज़ी शब्दों को ठूंस कर हिंदी को हीन दिखाने की दास-मानसिकता का ही परिचय दे रहा है. हिंदी मीडिया ही हिंदी के साथ 'ग़रीब की जोरू, गांव की भाभी' जैसा बलात्कारी व्यवहार करने लगता है.
- विदेशियों को इससे यही संदेश मिलता है कि भारतीय, अंग्रेज़ी की ग़ुलामी के बिना जी नहीं सकते. उनका यह सोचना भी स्वाभाविक ही है कि जब भारतीय स्वयं ही अपनी भाषा का सम्मान नहीं करते, उसे ठीक से सीखना या बोलना नहीं जानते या नहीं चाहते, तो वे उसे सीखने का कष्ट भला क्यों करें? यूरोप का कोई भी देश कितना भी छोटा हो - चाहे केवल तीन लाख जनसंख्या वाला आइसलैंड हो या छह लाख जनसंख्या वाला लक्सेमबुर्ग - हर देश अपनी ही भाषा में अपने सारे काम करता है और अपनी भाषा की शुद्धता बनाये रखने पर भी पूरा ध्यान देता है. यूरोप के सभी देशों में लोग अंग्रेजी सीखते हैं, पर एक विदेशी भाषा के तौर पर. मात्र तीन देश अंग्रेज़ी में अपना काम करते हैं - ब्रिटेन, आयरलैंड और माल्टा. तीनों की मिली-जुली जनसंख्या केवल 10 करोड़ 80 लाख है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

हिंदी की पूछताछ प्रवासी भारतीयों के बीच ही

- भारत से बाहर हिंदी की पूछताछ अधिकतर उन्हीं देशों में है, जहां प्रवासी या अनिवासी भारतीयों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है. उदाहरण के लिए, लघु-भारत कहलाने वाले मॉरीशस के 13 लाख निवासियों में से 68 प्रतिशत भारतवंशी हैं. वहां के महात्मा गांधी संस्थान ने हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए 1998 से डिप्लोमा कोर्स, 1990 से बीए ऑनर्स हिंदी, और 2001 से एमए हिंदी की व्यवस्था कर रखी है. तब भी हिंदी को मॉरीशस में आधिकारिक भाषा का दर्जा नहीं मिला है. हिंदी को यह दर्जा भारत के बाहर केवल फ़िजी में मिला हुआ है.
- भारत के पड़ोसी देशों में नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय में और श्रीलंका के कोलंबो विश्वविद्यालय में हिंदी का अलग विभाग है. जापान में भी कम से कम आधे दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी के पाठ्यक्रम चलते हैं, जिनमें से कई में उच्च शिक्षा की व्यवस्था है.

- अमेरिका के 25 लाख भारतीय वहां रहने वाले मैक्सिको से आये आप्रवासियों के बाद दूसरा सबसे बड़ा प्रवासी समूह हैं. वहां के सभी भारतवंशी हिंदी भाषी नहीं हैं, तब भी वहां हिंदी की अच्छी मांग है. इसी कारण अमेरिका के 75 विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है. भारतीयों की ही तीन प्रमुख संस्थाएं - अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति, विश्व हिंदी समिति और हिंदी न्याय - अमेरिका में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का काम करती हैं. कम से कम चार प्रमुख हिंदी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं - विश्व, सौरभ, क्षितिज और हिंदी जगत.
- आस्ट्रेलिया में न्यू साउथ वेल्स से मासिक 'हिंदी समाचार पत्रिका', ब्रिटेन से त्रैमासिक 'प्रवासिनी' और 'पुरवाई', म्यांमार (बर्मा) से मासिक 'ब्रह्मभूमि', गुयाना से मासिक 'ज्ञानदान', सूरीनाम से 'आर्यदिवाकर' और मासिक पत्रिका 'सरस्वती' आदि का प्रकाशन इन देशों में रहने वाले भारतवंशियों के हिंदी के प्रति लगाव को दिखाता है, न कि यह कि वहां के मूल निवासी भी हिंदी भाषा से परिचित हैं, जैसा कि भारत में आभास दिया जाता है.

हिंदी का कथित सरलीकरण

- 2014 में बीजेपी की सरकार बनने के बाद से भारत में हिंदी की भाषायिक स्वाभाविकता और स्वीकृति में सुधार हो रहा है. अंग्रेज़ी शब्दों की भरमार कुछ कम हुई है. अंग्रेज़ी के बहुप्रचलित सरल शब्दों को अपनाने में कोई दोष नहीं है. दोष है सरलीकरण की आड़ लेकर हिंदी में अंग्रेज़ी, अरबी या फ़ारसी शब्द ठूंसने में. यदि 10, 20 या 30 प्रतिशत अंग्रेज़ी शब्दों से हिंदी सरल बनती है, तो क्यों न इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए 100 प्रतिशत अंग्रेज़ी शब्दों को अपनाकर हिंदी का शत-प्रतिशत सरलीकरण कर दिया जाये! क्यों न अंग्रेज़ी को ही शत-प्रतिशत सरलीकृत हिंदी घोषित कर दिया जाये! सरलीकरण के नाम पर हिंदी की यह बलात्कारी विकृति स्वीकार्य नहीं हो सकती.
- इसी तरह यह कहना कि अंग्रेज़ी के बिना भारत विज्ञान और तकनीक में तेज़ी से प्रगति नहीं कर सकता, 'नाच न आए आंगन टेढ़ा' जैसा बेतुका तर्क है. चीन, जापान, ताइवान और दक्षिण कोरिया ने, हमारे देखते ही देखते, पिछले केवल 30, 40 या 50 वर्षों में उपभोक्ता इलेक्ट्रॉनिक, कंप्यूटर हार्डवेयर, ऑटोमोबाइल, आनुवंशिकी और चिकित्सा विज्ञान तथा तेज़गति बुलेट ट्रेनों के मामले में यूरोप-अमेरिका को जिस तरह पीछे छोड़ दिया है, उससे पहले क्या उन्होंने सारे देश को अंग्रेज़ी सिखाई-पढ़ाई? वे अपना सारा सरकारी-ग़ैर सरकारी कामकाज हम भारतीयों की तरह क्या अंग्रेज़ी में करते हैं?

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

अंग्रेज़ी ही सब कुछ नहीं

- इन सब देशों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रगति की दौड़ लगाई है. वहां के लोग हम भारतीयों से बेहतर अंग्रेज़ी नहीं जानते. हम भी तो लॉर्ड मैकाले की कृपा से 1835 से, यानी क़रीब दो सदियों से, अंग्रेज़ी लिख-पढ़ और बोल रहे हैं. हम अपने आप को बड़ा तीसमार खां समझते हैं, जबकि भारत के किसी भी अंग्रेज़ी-भाषी लेखक को कभी कोई नोबेल पुरस्कार तक नहीं मिला. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही विज्ञान-तकनीक वाले ताले की कुंजी है, तो 200 साल पहले मैकाले से मिली अंग्रेज़ी वाली कुंजी से हम जापान, ताइवान, कोरिया या चीन से पहले अपनी प्रगति का ताला क्यों नहीं खोल पाये? अंग्रेज़ी में पैदल अपने ही पास के इन एशियाई देशों से, जहां अंग्रेज़ी भाषा से अधिक भारत से ही गये बौद्ध धर्म का प्रभाव है, हम पिछड़ कैसे गये?

- सच्चाई यह है कि स्वयं अंग्रेज़ी मातृभाषा और रोमन लिपि वाले ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे देश भी आज चीन-जापान-कोरिया-ताइवान जैसे उन एशियाई देशों से पिछड़ते जा रहे हैं, जिनकी न तो मातृभाषा अंग्रेजी है और न जिनकी चित्रलिपी रोमन या लैटिन जैसी कोई सरल लिपि है. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही सर्वशक्तिमान होता, तो अंग्रेज़ी मातृभाषी इंग्लैंड-अमेरिका जैसे देशों को हर क्षेत्र में सदा-सर्वदा आगे-ही-आगे रहना चाहिये. पर वे पिछड़ रहे हैं. दूरपूर्व के एशियाई देश इसलिए उनसे आगे बढ़ने लगे हैं, क्योंकि वे अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के इस्तेमाल पर अडिग रहे. सबसे पहले अपनी भाषा को ढंग से सीखा-पढ़ा. अंग्रेज़ी को केवल एक विदेशी या अंतरराष्ट्रीय भाषा के तौर पर देखा और जाना.
- भाषा न तो किसी जनता की स्वाभाविक प्रतिभा या बौद्धिकता के विकास में बाधक होती है और न ही उनके अभाव को दूर कर सकती है. हम यदि दूसरों से पिछड़े, तो इसमें हमारी ही कोई कमी है, न कि हमारी हिंदी या अन्य स्वदेशी भाषाओं की. कमी यही है कि हम 'घर के जोगी को जोगड़ा और आन गांव वाले को सिद्ध' मानने की हीन भावना से पीड़ित हैं. हिंदी अपने घर की भाषा है, अंग्रेज़ी आन गांव की. हमने मान लिया है कि सिद्धि तो आन गांव की अंग्रेज़ी से ही मिलेगी, अपने गांव की हिंदी से नहीं. हम खुद तो बड़े ताव से अंग्रेज़ी लिखते-पढ़ते हैं, पर चाहते हैं कि बाक़ी दुनिया हिंदी सीखे! राष्ट्रीय स्तर पर तो हिंदी को अपना नहीं पाते, हर साल बड़े धूम-धाम से विश्व हिंदी दिवस मनाते हैं.

ज्ञानपीठ पुरस्कार

ज्ञानपीठ पुरस्कार भारतीय ज्ञानपीठ न्यास द्वारा भारतीय साहित्य के लिए दिया जाने वाला सर्वोच्च पुरस्कार है।भारत का कोई भी नागरिक जो आठवीं अनुसूची में बताई गई २२ भाषाओं में से किसी भाषा में लिखता हो इस पुरस्कार के योग्य है। पुरस्कार में ग्यारह लाख रुपये की धनराशि, प्रशस्तिपत्र

और वाग्देवी की कांस्य प्रतिमा दी जाती है।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

वर्ष	नाम	कृति	भाषा
१९६५	जी शंकर कुरुप	*ओटक्कुष़ल* (वंशी)	मलयालम
१९६६	ताराशंकर बंधोपाध्याय	*गणदेवता*	बांग्ला
१९६७	के.वी. पुत्तपा	*श्री रामायण दर्शणम*	कन्नड़
१९६७	उमाशंकर जोशी	*निशिता*	गुजराती
१९६८	सुमित्रानंदन पंत	*चिदंबरा*	हिन्दी
१९६९	फ़िराक गोरखपुरी	*गुल-ए-नगमा*	उर्दू
१९७०	विश्वनाथ सत्यनारायण	*रामायण कल्पवरिक्षमु*	तेलुगु
१९७१	विष्णु डे	*स्मृति शत्तो भविष्यत*	बांग्ला
१९७२	रामधारी सिंह दिनकर	*उर्वशी*	हिन्दी
१९७३	दत्तात्रेय रामचंद्र बेन्द्रे	*नकुतंति*	कन्नड़
१९७३	गोपीनाथ महान्ती	*माटीमटाल*	उड़िया
१९७४	विष्णु सखाराम खांडेकर	*ययाति*	मराठी
१९७५	पी.वी. अकिलानंदम	*चित्रपवई*	तमिल
१९७६	आशापूर्णा देवी	*प्रथम प्रतिश्रुति*	बांग्ला
१९७७	के. शिवराम कारंत	*मुक्कजिया कनसुगालु*	कन्नड़
१९७८	अज्ञेय	*कितनी नावों में कितनी बार*	हिन्दी
१९७९	विरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य	*मृत्यंजय*	असमिया
१९८०	एस. के. पोट्टेक्काट	*ओरु देसात्तिन्ते कथा*	मलयालम
१९८१	अमृता प्रीतम	*कागज ते कैनवास*	पंजाबी
१९८२	महादेवी वर्मा	*यामा*	हिन्दी
१९८३	मस्ती वेंकटेश अयंगार		कन्नड़
१९८४	तकाजी शिवशंकरा पिल्लै		मलयालम
१९८५	पन्नालाल पटेल		गुजराती
१९८६	सच्चिदानंद राउतराय		ओड़िया
१९८७	विष्णु वामन शिरवाडकर कुसुमाग्रज		मराठी
१९८८	सी॰ नारायण रेड्डी		तेलुगु
१९८९	कुर्तुलएन हैदर		उर्दू
१९९०	वी.के.गोकक		कन्नड़
१९९१	सुभाष मुखोपाध्याय		बांग्ला
१९९२	नरेश मेहता		हिन्दी
१९९३	सीताकांत महापात्र		ओड़िया

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

१९९४	यू.आर. अनंतमूर्ति		कन्नड़
१९९५	एम.टी. वासुदेव नायर		मलयालम
१९९६	महाश्वेता देवी		बांग्ला
१९९७	अली सरदार जाफरी		उर्दू
१९९८	गिरीश कर्नाड		कन्नड़
१९९९	निर्मल वर्मा		हिन्दी
१९९९	गुरदयाल सिंह		पंजाबी
२०००	इंदिरा गोस्वामी		असमिया
२००१	राजेन्द्र केशवलाल शाह		गुजराती
२००२	दण्डपाणी जयकान्तन		तमिल
२००३	विंदा करंदीकर		मराठी
२००४	रहमान राही[5]		कश्मीरी
२००५	कुँवर नारायण		हिन्दी
२००६	रवीन्द्र केलकर		कोंकणी
२००६	सत्यव्रत शास्त्री		संस्कृत
२००७	ओ.एन.वी. कुरुप		मलयालम
२००८	अखलाक मुहम्मद खान शहरयार		उर्दू
२००९	अमरकान्त व श्रीलाल शुक्ल को संयुक्त रूप से दिया गया।		हिन्दी
२०१०	चन्द्रशेखर कम्बार		कन्नड
२०११	प्रतिभा राय		ओड़िया
२०१२	रावुरी भारद्वाज		तेलुगू
२०१३	केदारनाथ सिंह		हिन्दी
२०१४	भालचंद्र नेमाडे[6]		मराठी
२०१५	रघुवीर चौधरी		गुजराती
२०१६	शंख घोष		बांग्ला
२०१७	कृष्णा सोबती		हिन्दी
२०१८	अमिताव घोष		अंग्रेजी
2019	कवि अक्कीथम		मलयालम

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

साहित्य अकादमी पुरस्कार

साहित्य अकादमी पुरस्कार, सन् १९५५ से प्रत्येक वर्ष भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों को दिया जाता है, जिसमें एक ताम्रपत्र के साथ नक़द राशि दी जाती है। नक़द राशि इस समय एक लाख रुपए हैं। साहित्य अकादेमी द्वारा अनुवाद पुरस्कार, बाल साहित्य पुरस्कार एवं युवा लेखन पुरस्कार भी प्रतिवर्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं में दिए जाते है

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९५५	माखनलाल चतुर्वेदी	*हिमतरंगिनी*	काव्य
१९५६	वासुदेव शरण अग्रवाल	*पद्मावत संजीवनी व्याख्या*	व्याख्या
१९५७	आचार्य नरेन्द्र देव †	*बौद्ध धर्म दर्शन*	दर्शन
१९५८	राहुल सांकृत्यायन	*मध्य एशिया का इतिहास*	इतिहास
१९५९	रामधारी सिंह 'दिनकर'	*संस्कृति के चार अध्याय*	भारतीय संस्कृति
१९६०	सुमित्रानंदन पंत	*कला और बूढ़ा चाँद*	काव्य
१९६१	भगवतीचरण वर्मा	*भूले बिसरे चित्र*	उपन्यास
१९६२	***पुरस्कार वितरण नही***		
१९६३	अमृत राय	*प्रेमचंद: कलम का सिपाही*	जीवनी
१९६४	सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'	*आँगन के पार द्वार*	काव्य
१९६५	डॉ॰ नगेन्द्र	*रस सिद्धांत (विवेचना)*	विवेचना
१९६६	जैनेन्द्र कुमार	*मुक्तिबोध*	उपन्यास
१९६७	अमृतलाल नागर	*अमृत और विष*	उपन्यास
१९६८	हरिवंशराय बच्चन	*दो चट्टाने*	काव्य
१९६९	श्रीलाल शुक्ल	*राग दरबारी*	उपन्यास
१९७०	राम विलास शर्मा	*निराला की साहित्य साधना*	जीवनी

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९७१	नामवर सिंह	*कविता के नये प्रतिमान*	साहित्यिक आलोचना
१९७२	भवानीप्रसाद मिश्र	*बुनी हुई रस्सी*	काव्य
१९७३	हजारी प्रसाद द्विवेदी	*आलोक पर्व*	निबंध
१९७४	शिवमंगल सिंह सुमन	*मिट्टी की बारात*	काव्य
१९७५	भीष्म साहनी	*तमस*	उपन्यास
१९७६	यशपाल	*मेरी तेरी उसकी बात*	उपन्यास
१९७७	शमशेर बहादुर सिंह	*चुका भी हूँ मैं नहीं*	काव्य
१९७८	भारतभूषण अग्रवाल	*उतना वह सूरज है*	काव्य
१९७९	सुदामा पांडेय 'धूमिल' †	*कल सुनना मुझे*	काव्य
१९८०	कृष्णा सोबती	*ज़िन्दगीनामा - ज़िन्दा रुख़*	उपन्यास
१९८१	त्रिलोचन	*ताप के ताये हुए दिन*	काव्य
१९८२	हरिशंकर परसाईं	*विकलांग श्रद्धा का दौर*	व्यंग
१९८३	सर्वेश्वरदयाल सक्सेना †	*खूँटियों पर टँगे लोग*	काव्य
१९८४	रघुवीर सहाय	*लोग भूल गये हैं*	काव्य

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
१९८५	निर्मल वर्मा	*कव्वे और काला पानी*	कहानी संग्रह
१९८६	केदारनाथ अग्रवाल	*अपूर्वा*	काव्य
१९८७	श्रीकांत वर्मा	*मगध*	काव्य
१९८८	नरेश मेहता	*अरण्या*	काव्य
१९८९	केदारनाथ सिंह	*अकाल में सारस*	काव्य
१९९०	शिव प्रसाद सिंह	*नीला चाँद*	उपन्यास
१९९१	गिरिजाकुमार माथुर	*मैं वक्त के हूँ सामने*	काव्य
१९९२	गिरिराज किशोर	*ढाई घर*	उपन्यास
१९९३	विष्णु प्रभाकर	*अर्द्धनारीश्वर*	उपन्यास
१९९४	अशोक वाजपेयी	*कहीं नहीं वहीं*	काव्य
१९९५	कुंवर नारायण	*कोई दूसरा नहीं*	काव्य
१९९६	सुरेन्द्र वर्मा	*मुझे चाँद चाहिये*	उपन्यास
१९९७	लीलाधर जगूड़ी	*अनुभव के आकाश में चांद*	काव्य
१९९८	अरुण कमल	*नये इलाके में*	काव्य
१९९९	विनोद कुमार शुक्ल	*दीवार में एक खिड़की रहती थी*	उपन्यास
२०००	मंगलेश डबराल	*हम जो देखते हैं*	काव्य
२००१	अलका सरावगी	*कलिकथा वाया बाईपास*	उपन्यास

वर्ष	लेखक	कृति	शैली
२००२	राजेश जोशी	*दो पंक्तियों के बीच*	काव्य
२००३	कमलेश्वर	*कितने पाकिस्तान*	उपन्यास
२००४	वीरेन डंगवाल	*दुष्चक्र में सृष्टा*	काव्य
२००५	मनोहर श्याम जोशी	*क्याप*	उपन्यास
२००६	ज्ञानेन्द्रपति	*संशयात्मा*	काव्य
२००७	अमरकांत	*इन्हीं हथियारों से*	उपन्यास
२००८	गोविन्द मिश्र	*कोहरे में कैद रंग*	उपन्यास
२००९	कैलाश वाजपेयी	*हवा में हस्ताक्षर*	काव्य
२०१०	उदय प्रकाश	*मोहन दास*	कहानी
२०११	काशीनाथ सिंह	*रेहन पर रग्घू*	उपन्यास
२०१२	चंद्रकांत देवताले	*पत्थर फेंक रहा हूँ*	काव्य
२०१३	मृदुला गर्ग	*मिलजुल मन*	उपन्यास
२०१४	रमेशचन्द्र शाह	*विनायक*	उपन्यास
२०१५	रामदरश मिश्र	*आग की हँसी*	काव्य
२०१६	नासिरा शर्मा	*पारिजात*	उपन्यास
२०१७	रमेश कुंतल मेघ	*विश्व मिथक सरित सागर*	साहित्यिक समालोचना
२०१८	चित्रा मुद्गल	*पोस्ट बॉक्स न. २०३ नाला सोपारा*	उपन्यास
२०१९	नंदकिशोर आचार्य	*छीलते हुए अपने को*	कविता

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

साहित्यिक आलोचना के रचना पुरुष थे नामवर सिंह,

- नामवर सिंह हिंदी साहित्य में आलोचना के रचना पुरुष कहे जाते थे. उनके लेखन पर जितनी चर्चा हुई, उतनी ही चर्चा उनके कथनों और भाषणों पर भी की गई थी. उन्हें आलोचना और साक्षात्कार विधा को नई ऊंचाई देने का श्रेय जाता है. कविता के नए प्रतिमान के लिए 1971 में नामवर सिंह को साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाजा गया था.

- नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1927 को जीयनपुर (अब चंदौली) वाराणसी में हुआ था. उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एमए और पीएचडी की और उसके बाद उन्होंने कई वर्षों तक वहां पढ़ाया भी. बीएचयू के साथ ही उन्होंने सागर, जोधपुर विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय में अध्यापन किया था. फिर वो दिल्ली के जेएनयू में आ गए और वहीं से रिटायर हुए. नामवर सिंह उर्दू के भी बड़े जानकार थे.
- वे 'आलोचना' त्रैमासिक के प्रधान संपादक रहे और उन्होंने 'जनयुग' साप्ताहिक (1965-67) का संपादन भी किया. साल 1992 से राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष रहे.
- अध्यापन और लेखन के अलावा उन्होंने राजनीति में भी हाथ आजमाया था. साल 1959 में वे सक्रिय राजनीति में उतरे और उन्होंने इस साल चकिया-चंदौली सीट से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के बैनर तले लोकसभा चुनाव लड़ा था. हालांकि इस चुनाव में उन्हें हार का सामना करना पड़ा था.

आलोचना: बकलम खुद, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, छायावाद, पृथ्वीराज रासो की भाषा, इतिहास और आलोचना, दूसरी परंपरा की खोज, वाद विवाद संवाद.

बनारस में मिले साहित्य के संस्कार

- कहा जाता है कि बनारस अपने आप में एक अद्भुत शहर है- तरह-तरह के मंदिर, गंगा के अनेक घाट, पंडे, पुरोहित और पाखंडी, पतली-पतली गलियां और सनातन काल से अपने पांडित्य, शास्त्रीयता के लिए प्रसिद्ध लोग! बनारस के विषय में नामवर सिंह कहते हैं कि काशी पंडे-पुरोहित और धार्मिक लोगों की है, किंतु उसमें कबीर और तुलसीदास की भी उपस्थिति है। उसी काशी में प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद हुए, इसलिए हमें कभी भूलना नहीं चाहिए कि काशी केवल एक पुरातनपंथी शहर ही नहीं है, बल्कि उसके विरोधी लड़ने वाले विचारक भी हुए। उसी काशी में सारनाथ भी है और विश्वनाथ भी है। काशी में क्वींस कॉलेज है, जो कभी अंग्रेज़ियत का गढ़ था और गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज हुआ करता था, जिसमें संस्कृत के बड़े-बड़े विद्वान् हुआ करते थे, जिसे अंग्रेज़ों ने बनाया था और वहीं मदनमोहन मालवीय ने काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित किया। वहीं बाबू शिवप्रसाद गुप्त और आदरणीय नरेन्द्र देव ने काशी विद्यापीठ स्थापित किया। उस काशी में आया तो एक ओर नागरी प्रचारिणी सभा और दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ था। उसी काशी में प्रेमचंद का 'हंस' निकलता था, जो तब प्रगतिशील लेखक संघ का मुख पत्र था। उस काशी में जहां एक ओर भारत धर्म मंडल था, वहां कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर भी था। वहीं कांग्रेस का दफ्तर था, वहीं कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का भी दफ्तर था। तो काशी के कई रूप हैं।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

व्यक्तित्व

- नामवर के व्यक्तित्व के विकास में काशी की परंपरा और परिवेश की अहम भूमिका है। काशी उनके संस्कार में रचा-बसा है। लेकिन उनके निर्माण में आवाजापुर की साहित्यिक मंडली के बाद बनारस के हीवेट क्षत्रिय स्कूल के परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जहां एक से एक तपे-तपाए शिक्षक थे। उस स्कूल के प्राचार्य पहले अंग्रेज़ हुआ करते थे, पहले भारतीय प्राचार्य जगदीश प्रसाद सिंह थे, जिन्हें लोग जे.पी. सिंह कहा करते थे। वे सेंट जोन्स कॉलेज, आगरा के पढ़े थे और अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। उस समय बनारस में लोगों की यह धारणा थी कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति राधाकृष्णन सबसे अच्छी अंग्रेजी

बोलते हैं और दूसरे जे.पी. सिंह। उनका अंग्रेज़ी कविता पढ़ाने का प्रभावशाली ढंग था। नामवर कहते हैं- 'वे कविता बहुत अच्छी तरह पढ़ाते थे। 'गोल्डन ट्रेजरी' पढ़ाई थी। वे इस कदर पढ़ाते थे कि कविता याद तो हो ही जाती थी, यह भी कि कविता को किस तरह पढ़ना चाहिए। रिसाइट कैसे करना चाहिए, एप्रीशिएट कैसे करना चाहिए। समझाना कैसे चाहिए।'

खड़ी बोली का सवैया

- 'तान के सोता रहा जल चादर, वायु-सा खींच जगा गया कोई।' मैं जब उसे पढ़ता था तो वे साथ-साथ उसे गाते थे। बड़े सहृदय थे। संगीत के मर्मज्ञ थे। गाते अच्छा थे क्लासिकल। तो एक उनकी छाप पड़ी। उनकी याददाश्त अद्भुत थी। जिसका नाम वो एक बार सुन लेते थे, याद रहता था। स्कूल के हजार-बारह सौ विद्यार्थी और सबके नाम उन्हें याद थे। किसी को देख लेते तो नाम से बुलाते। एक बार की घटना है। कुछ विद्यार्थी छिपकर सिनेमा देखने गए थे और देर से लौटे थे। छह बजे शाम के बाद आए। सर्दियों के दिन थे। धुंधलका हो चुका था। तांगे पर से उतरकर जैसे ही अंदर घुसे कि प्रिंसिपल साहब छड़ी उठाकर सामने थे। टोका। बारहों विद्यार्थियों को खड़ा कर दिया। नए लड़के थे। सबका नाम पूछा और सबको जाने दिया। अगले दिन जिस क्रम से वे खड़े थे, उसी क्रम से नोटिस उनको पहुंच गया और उन्हें उसी क्रम से प्रिंसिपल रूम में बुलाया गया। तो अद्भुत स्मरणशक्ति थी। आवाज़ गूंजती थी।' हीवेट क्षत्रिय स्कूल, इंटर में उदय प्रताप कॉलेज के नाम से जाना जाता था। पहले वहां इंटर तक की पढ़ाई होती थी। अब तो वह पी.जी. कॉलेज हो गया है। नामवर सिंह ने 1941 से 1947 तक वहां पढ़ाई की। जे.पी. सिंह के कारण स्कूल में कड़ा अनुशासन था। एक से एक शिक्षक थे। सुबह पी.टी. से लेकर शाम तक के हर घंटे का हिसाब था। पढ़ने का, खेलने का निर्धारित समय था। साप्ताहिक सांस्कृतिक-साहित्यिक कार्यक्रम होते थे।

बनारस में निराला का अभिनंदन

- 1947 ई. में उन्होंने बारहवीं की परीक्षा पास की। इसी वर्ष बनारस में निराला का अभिनंदन किया गया था। समारोह का आयोजन नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया था। इस आयोजन में कई युवा कवियों ने काव्य-पाठ किया था। निराला के हाथों नामवर सिंह को सौ रुपए का पुरस्कार भी मिला था। इस अवसर पर निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'राम की शक्तिपूजा' का पाठ भी किया था। इसी वर्ष इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें पहली बार राहुल सांकृत्यायन से भेंट हुई। उन्होंने समारोह की अध्यक्षता की थी। अज्ञेय, सज्जाद जहीर, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे आदि ने इसमें भाग लिया था। यशपाल ने 'शेखर : एक जीवनी' की कड़ी आलोचना करते हुए एक लेख पढ़ा था।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश

- नामवर सिंह ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.ए. में प्रवेश किया तो रहने के लिए विश्वविद्यालय के पास ही संकटमोचन के इलाके में स्थित एक छात्रवास में आ गए। त्रिलोचन जी तब लंका मोहल्ले के अकनू भवन में रहते थे। प्राय: रोज सुबह गंगा-स्नान त्रिलोचन के साथ होता। वे इस क्रम में बताते हैं- अक्षर-स्नान के साथ-साथ गंगा-स्नान भी रोज ही होता था। 1947 से 1951 तक रोज गंगा-स्नान करता था। यह क्रम बरसात में भी चलता था। बल्कि बरसात में जो चिकनी मिट्टी घुली रहती, बदन पर कुछ मलना नहीं पड़ता। उनको लहरों से होड़ करने में आनंद आता था। गंगा की चिकनी मिट्टी से बढ़िया साबुन आज तक नहीं बना। हम पैदल भी खूब चलते थे। इक्के-घोड़े पर चलना अय्याशी-सी लगती। तैरने और चलने में त्रिलोचन जी का साथ रहता। एक बार की बात है। त्रिलोचन ने नामवर से कहा- मैंने तो बनारस की बाढ़ आई गंगा तैरकर पार की है, चलो, फिर पार करते हैं। वे दोनों तैरने लगे। थोड़ी दूर जाने के बाद त्रिलोचन ने कहा- छोड़ो, लौट चलो। पर नामवर आगे बढ़ गए। आधी नदी पार करने के बाद बांहें भरी और थकी हुई लगने लगीं। आगे बढ़ने की हिम्मत जवाब

देने लगी। उस समय लगने लगा कि बचपन में तो डूबने से बच गया था, लेकिन आज तो डूब ही जाऊंगा। कोई बचाने वाला भी नहीं था। दूर-दूर तक कोई नाव भी नहीं दिखाई दे रही थी। लेकिन फिर हिम्मत जुटाई और केवल अपने को बचाया ही नहीं, गंगा भी पार की। शायद यह इसलिए कर सके कि तैरने का लगातार अभ्यास था।

योगदान

- बनारस में नामवर की अभिन्नता ठाकुर प्रसाद सिंह से थी। वे व्यक्तित्व के तरल और सरल आदमी थे। वे बनारस के ईश्वरगंगी मुहल्ले में रहते थे। 1940 ई. में उन्होंने 'नवयुवक साहित्यिक संघ' नामक एवं साहित्यिक संस्था अपने सहयोगी पारसनाथ मिश्र 'सेवक' के साथ निर्मित की थी, जिसमें हर सप्ताह एक साहित्यिक गोष्ठी होती थी। 1944 ई. से नामवर भी इसकी गोष्ठियों में शामिल होते थे। ठाकुर प्रसाद सिंह ने ईश्वरगंगी मुहल्ले में भारतेन्दु विद्यालय एवं 'ईश्वरगंगी पुस्तकालय' की स्थापना की थी। 1947 ई. में उनकी नियुक्ति बलदेव इंटर कॉलेज, बड़ागांव में हो गई। 'नवयुवक साहित्य संघ' की जिम्मेवारी उन्होंने नामवर और सेवक जी को दे दी। इसकी गोष्ठियां ठाकुर प्रसाद सिंह के बगैर भी बरसों चलती रहीं। बाद में इसका नाम सिर्फ साहित्यिक संघ हो गया। इसकी गोष्ठियों में बनारस के तत्कालीन प्राय: सभी साहित्यकार उपस्थित होते थे। नामवर के साथ त्रिलोचन एवं विजयदेव नारायण साही की इसमें नियमित उपस्थिति होती थी। नामवर की काव्य-प्रतिभा के निर्माण में इस संस्था का भी अप्रतिम योगदान है।

कार्यक्षेत्र

अध्यापन

- नामवर सिंह ने अध्यापन कार्य का आरम्भ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (1953-1959) किया और फिर 'जोधपुर विश्वविद्यालय' में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष (1970-74), 'आगरा विश्वविद्यालय' के क.मु. हिन्दी विद्यापीठ के प्रोफेसर निदेशक (1974), जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में 'भारतीय भाषा केन्द्र' के संस्थापक अध्यक्ष तथा हिन्दी प्रोफेसर (1965-92) और अब उसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर इमेरिट्स हैं। नामवर सिंह महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भी रहे।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

सम्पादन	सम्पादित ग्रंथ
• "आलोचना" त्रैमासिक के प्रधान सम्पादक। • "जनयुग" साप्ताहिक (1965-67) और "आलोचना" का सम्पादन (1967-91) • 2000 से पुन: आलोचना का सम्पादन । • 1992 से राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष	1. कहानी:नई कहानी, 2. कविता के नये प्रतिमान 3. दूसरी परम्परा की खोज 4. वाद विवाद सम्वाद 5. कहना न होगा

राज्यसभा में पहली बार संथाली बोली गई

- बीजेडी सदस्य सरोजिनी हेम्ब्रम ने शून्यकाल के दौरान लोक महत्व से जुड़ा अपना मुद्दा संथाली भाषा में उठाया. उन्होंने इस भाषा की लिपि 'ओल चिकी' तैयार करने वाले पंडित रघुनाथ मुर्मू को भारत रत्न दिए जाने की मांग भी की. बीजेडी सदस्य ने कहा कि 1925 में संथाली की लिपि तैयार करने वाले पंडित मुर्मू का आदिवासी जनजीवन में बहुत ही ऊंचा और खास स्थान है और राज्य में उन्हें महान सांस्कृतिक आदर्श का दर्जा दिया जाता है.
- संथाली 'ऑस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार की एक शाखा से जुड़ी भाषा है. इसे भारत, बांग्लादेश, नेपाल और भूटान में करीब 60 लाख बोलते हैं. भारत में संथाली भाषा का प्रयोग झारखंड, असम, बिहार, उड़ीसा, त्रिपुरा और पश्चिम बंगाल में होता है.

महात्मा गांधी कैसा रामराज्य चाहते थे?

- दांडी मार्च के दौरान ही ऐसी ही भ्रांतियों के निवारण के लिए उन्हें 20 मार्च, 1930 को हिन्दी पत्रिका 'नवजीवन' में 'स्वराज्य और रामराज्य' शीर्षक से एक लेख लिखना पड़ा था. इसमें गांधीजी ने कहा था- 'स्वराज्य के कितने ही अर्थ क्यों न किए जाएं, तो भी मेरे नजदीक तो उसका त्रिकाल सत्य एक ही अर्थ है, और वह है रामराज्य. यदि किसी को रामराज्य शब्द बुरा लगे तो मैं उसे धर्मराज्य कहूंगा. रामराज्य शब्द का भावार्थ यह है कि उसमें गरीबों की संपूर्ण रक्षा होगी, सब कार्य धर्मपूर्वक किए जाएंगे और लोकमत का हमेशा आदर किया जाएगा. ...सच्चा चिंतन तो वही है जिसमें रामराज्य के लिए योग्य साधन का ही उपयोग किया गया हो. यह याद रहे कि रामराज्य स्थापित करने के लिए हमें पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं है. जिस गुण की आवश्यकता है, वह तो सभी वर्गों के लोगों- स्त्री, पुरुष, बालक और बूढ़ों- तथा सभी धर्मों के लोगों में आज भी मौजूद है. दुःख मात्र इतना ही है कि सब कोई अभी उस हस्ती को पहचानते ही नहीं हैं. सत्य, अहिंसा, मर्यादा-पालन, वीरता, क्षमा, धैर्य आदि गुणों का हममें से हरेक व्यक्ति यदि वह चाहे तो क्या आज ही परिचय नहीं दे सकता?'
- इससे पहले अहसहयोग आंदोलन के दौरान 22 मई, 1921 को गुजराती 'नवजीवन' में महात्मा गांधी लिख चुके थे -'कुछ मित्र रामराज्य का अक्षरार्थ करते हुए पूछते हैं कि जब तक राम और दशरथ फिर से जन्म नहीं लेते तब तक क्या रामराज्य मिल सकता है? हम तो रामराज्य का अर्थ स्वराज्य, धर्मराज्य, लोकराज्य करते हैं. वैसा राज्य तो तभी संभव है जब जनता धर्मनिष्ठ और वीर्यवान् बने. ...अभी तो कोई सद्गुणी राजा भी यदि स्वयं प्रजा के बंधन काट दे, तो भी प्रजा उसकी गुलाम बनी रहेगी. हम तो राज्यतंत्र और राज्यनीति को बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं; बाद में हमारे सेवक के रूप में अंग्रेज रहेंगे या भारतीय हमें इसकी चिंता नहीं करनी पड़ेगी. हम अंग्रेज जनता को बदलने का प्रयास भी नहीं करते. हम तो स्वयं अपने-आप को बदलने का प्रयास कर रहे हैं.'
- अपने अर्थों वाले रामराज्य के निर्माण में महिलाओं की भागीदारी अनिवार्य बताते हुए 16 जनवरी, 1925 को महिलाओं की एक विशेष सभा में महात्मा गांधी ने कहा था - '...मैं सदा से कहता आया हूं कि जब तक सार्वजनिक जीवन में भारत की स्त्रियां भाग नहीं लेतीं, तब तक हिन्दुस्तान का उद्धार नहीं हो सकता. लेकिन सार्वजनिक जीवन में वही भाग ले सकेंगी जो तन और मन से पवित्र हैं. जिनके तन और मन एक ही दिशा में - पवित्र दिशा में चलते जा रहे हों, जब तक ऐसी स्त्रियां हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन को पवित्र न कर दें, तब तक रामराज्य अथवा स्वराज्य असंभव है. यदि ऐसा स्वराज्य संभव भी हो गया, तो वह ऐसा स्वराज्य होगा जिसमें स्त्रियों का पूरा-पूरा भाग नहीं होगा, और वह मेरे लिए निकम्मा स्वराज्य होगा.'
- गांधी जाति-व्यवस्था को रामराज्य के लिए सबसे घातक मानते थे. 24 जनवरी, 1928 को सौराष्ट्र के मोरबी रियासत के राजा की उपस्थिति में मोढ़ बनिया जाति के लोगों ने महात्मा गांधी को मानपत्र भेंट किया. वही मोढ़ बनिया जाति जिसने गांधी के लंदन पढ़ने जाने के निर्णय के बाद उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया था. मानपत्र लेने के अवसर पर गांधी ने समूची

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

जाति-व्यवस्था को ही रामराज्य अथवा स्वराज्य के लिए घातक बताते हुए कहा था - 'मैं यह माननेवाला रहा हूं कि (जाति के) इन छोटे-छोटे बाड़ों का नाश होना चाहिए. मुझे इस बारे में कोई शक नहीं कि हिन्दू-धर्म के भीतर जातियों के लिए कोई जगह नहीं है. और यह मैं मोढ़ या दूसरी जो भी जातियां यहां पर हों उन्हें ध्यान में रखकर कहता हूं. ...आप सबसे मोढ़ जाति के निमित्त मैं यह कहना चाहता हूं कि जाति के बाड़ों को भूल जाइये. आज जो जातियां हैं उनको यज्ञ की आहूति के रूप में उपयोग कर स्वाहा कीजिए और नई जाति न बनने दीजिए.'

- उन्होंने आगे कहा - '...आप (जाति के) इन छोटे-छोटे बाड़ों के खड्डों में पड़े रहेंगे तो बदबू उठेगी. डॉक्टर खड्डे भर देने की सलाह देते हैं, उसी तरह यह भी समझ लीजिए कि जाति के बाड़े भी मनुष्य के लिए घातक हैं. यह समझ लीजिए कि ईश्वर कभी ऐसी घातक रचना नहीं कर सकता. ...(जाति के बचाव में चल रही) बहस और अज्ञान को ज्ञान मत कहिए. आज दुनिया में जुदा-जुदा धर्मों का मुकाबला हो रहा है. लेकिन यदि हम खुले मन से देखें तो जान पड़ेगा कि हमारी जातियां हमारी तरक्की को, (वास्तविक मनुष्य) धर्म को, स्वराज्य को और रामराज्य को रोकने का कार्य करती है. मैं तो इन बाड़ों को तोड़ने की कोशिशें तेज करना चाहता हूं. आपको पता नहीं होगा कि मैंने अपने एक लड़के का ब्याह जाति से बाहर किया है.'
- आज रामराज्य को एक खास धार्मिक संप्रदाय से जोड़ा जा रहा है. गांधी के समय भी ऐसा प्रयास हुआ था. इसका जवाब देते हुए 26 फरवरी, 1947 को एक प्रार्थना-सभा में महात्मा गांधी ने कहा था - 'जिस आदमी की कुर्बानी की भावना अपने संप्रदाय से आगे नहीं बढ़ती, वह खुद तो स्वार्थी है ही, वह अपने संप्रदाय को भी स्वार्थी बनाता है. ...मैंने अपने आदर्श समाज को रामराज्य का नाम दिया है. कोई यह समझने की भूल न करे कि राम-राज्य का अर्थ है हिन्दुओं का शासन. मेरा राम खुदा या गॉड का ही दूसरा नाम है. मैं खुदाई राज चाहता हूं जिसका अर्थ है धरती पर परमात्मा का राज्य. ...ऐसे राज्य की स्थापना से न केवल भारत की संपूर्ण जनता का, बल्कि समग्र संसार का कल्याण होगा.'
- 25 मई, 1947 को एक साक्षात्कार में महात्मा गांधी ने आर्थिक असमानता को रामराज्य के लिए खतरा बताते हुए कहा था - 'आज आर्थिक असमानता है. समाजवाद की जड़ में आर्थिक असमानता है. थोड़ों को करोड़ और बाकी लोगों को सूखी रोटी भी नहीं, ऐसी भयानक असमानता में रामराज्य का दर्शन करने की आशा कभी न रखी जाए. इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रीका में ही समाजवाद को स्वीकार कर लिया था. मेरा समाजवादियों से और दूसरों से केवल यही विरोध रहा है कि सभी सुधारों के लिए सत्य और अहिंसा ही सर्वोपरि साधन है...' प्रश्नकर्ता ने इस पर तपाक से गांधी से दूसरा सवाल पूछा - 'आप कहते हैं कि शासक, जमींदार और पूंजीपति केवल संरक्षक (ट्रस्टी) बनकर रहें. क्या आप इनलोगों से यह उम्मीद करते हैं कि ये अपनी प्रवृत्ति बदलेंगे?'
- इस पर महात्मा गांधी का जवाब था - '...यदि वे लोग अपने आप संरक्षक नहीं बने तो समय उन्हें बनाएगा या फिर उनका नाश हो जाएगा. जब पंचायत-राज (सही मायनों में) बनेगा, तब लोकमत सब कुछ करवा लेगा. जमींदारी, पूंजी अथवा राजसत्ता की ताकत तब तक ही कायम रह सकती है, जब तक आम लोगों में अपनी ताकत की समझ नहीं होती. लोग अगर रूठ गए तो राजसत्ता, पूंजीपति या जमींदार क्या कर सकता है?'

THE CORE IAS
('A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

विजयादशमी के दिन हर जगह संत तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की गूंज रहती है. उसी रामचरितमानस में तुलसीदास ने लिखा था -

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा।।

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीता।।

- यानी 'रामराज्य' में किसी भी मनुष्य को दैहिक, दैविक और भौतिक समस्याओं से परेशान नहीं होना पड़ता. सभी मनुष्य आपस में प्रेम से रहते हैं. वे नीति और मर्यादा में तत्पर रहकर अपने-अपने मनुष्योचित धर्म का पालन करते हैं.
- लेकिन अब तुलसीदास को भी कथित 'रामभक्तों' ने इतना संकीर्ण बना दिया है कि आज तुलसीदास यदि स्वयं मौजूद होते तो अवश्य ही कुछ कहते. हालांकि ऐसे भेड़ियाधसान 'भक्तों' की आशंका उन्हें पहले से ही रही होगी इसलिए उन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक 'दोहावली' में लिखा है -

तुलसी भेड़ी की धंसनि, जड़ जनता सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान।।

- तुलसीदास कहते हैं कि भोली जनता तो भेड़ियाधसान के समान है - एक भेड़ जहां गिरा, सब वहीं गिरने लगते हैं. इसलिए ऐसी जनता से मिली मान-बड़ाई भी मिथ्या है. इसे पाकर जिसके मन में अहंकार उत्पन्न होता है, वह मनुष्य मूढ़तावश अपना आपा खो बैठता है और अपने पद से गिर जाता है.

चलते-चलते तुलसीदास जी की इसी पुस्तक से एक और दोहा पढ़ते चलें -
बलि मिस देखे देवता, कर मिस मानव देव।
मुए मार सुविचार हत, स्वारथ साधन एव।।

- यानी बलि के बहाने देवताओं की देवताई भी देख ली. और कर (टैक्स) के बहाने शासकों को भी देख लिया. ये सब अच्छे विचार से हीन होते हैं. ये मरे हुए को ही मारते हैं और केवल अपना स्वार्थ ही साधते हैं.
- दाशरथि राम के विजयोत्सव के शोर में सुधिजन समझें और समझाएं कि तुलसीदास और महात्मा गांधी के अर्थों वाला वास्तविक रामराज्य कैसे और कब आएगा!

जामुन का पेड़: कृश्न चंदर की वो कहानी, जिसे आईसीएसई ने पाठ्यक्रम से हटा दिया है

इस कहानी को नीचे पढ़ सकते हैं.

— o —

रात को बड़े ज़ोर का झक्कड़ (आंधी) चला. सेक्रेटेरियट के लॉन में जामुन का एक दरख़्त गिर पड़ा. सुबह जब माली ने देखा तो इसे मालूम पड़ा कि दरख़्त के नीचे एक आदमी दबा पड़ा है.

माली दौड़ा-दौड़ा चपरासी के पास गया. चपरासी दौड़ा-दौड़ा क्लर्क के पास गया. क्लर्क दौड़ा-दौड़ा सुपरिटेंडेंट के पास गया. सुपरिटेंडेंट दौड़ा-दौड़ा बाहर लॉन में आया. मिनटों में गिरे हुए दरख़्त के नीचे दबे हुए आदमी के गिर्द मज़मा इकट्ठा हो गया.

'बेचारा! जामुन का पेड़ कितना फलदार था.' एक क्लर्क बोला.

'इसकी जामुन कितनी रसीली होती थीं.' दूसरा क्लर्क बोला.

'मैं फलों के मौसम में झोली भर के ले जाता था. मेरे बच्चे इस की जामुनें कितनी ख़ुशी से खाते थे.' तीसरे क्लर्क ने तक़रीबन आबदीदा (रुआंसे) होकर कहा.

'मगर ये आदमी?' माली ने दबे हुए आदमी की तरफ़ इशारा किया.

'हां, यह आदमी!' सुपरिटेंडेंट सोच में पड़ गया.

'पता नहीं ज़िंदा है कि मर गया!' एक चपरासी ने पूछा.

'मर गया होगा. इतना भारी तना जिनकी पीठ पर गिरे, वह बच कैसे सकता है!' दूसरा चपरासी बोला.

'नहीं मैं ज़िंदा हूं!' दबे हुए आदमी ने बमुश्किल कराहते हुए कहा.

'ज़िंदा है!' एक क्लर्क ने हैरत से कहा.

'दरख़्त को हटाकर इसे निकाल लेना चाहिये.' माली ने मशविरा दिया.

'मुश्किल मालूम होता है.' एक काहिल और मोटा चपरासी बोला. 'दरख़्त का तना बहुत भारी और वज़नी है.'

'क्या मुश्किल है?' माली बोला. 'अगर सुपरिटेंडेंट साहब हुक्म दे तो अभी पंद्रह-बीस माली, चपरासी और क्लर्क ज़ोर लगाकर दरख़्त के नीचे से दबे आदमी को निकाल सकते हैं.'

'माली ठीक कहता है.' बहुत-से क्लर्क एक साथ बोल पड़े. 'लगाओ ज़ोर, हम तैयार हैं.'

एकदम बहुत से लोग दरख़्त को काटने पर तैयार हो गए.

THE CORE IAS
(A spirit of just unlearn)
www.thecoreias.com

'ठहरो!', सुपरिटेंडेंट बोला, 'मैं अंडर-सेक्रेटरी से मशविरा कर लूं .'

सुपरिटेंडेंट अंडर-सेक्रेटरी के पास गया. अंडर-सेक्रेटरी डिप्टी सेक्रेटरी के पास गया. डिप्टी सेक्रेटरी जॉइन्ट सेक्रेटरी के पास गया. जॉइन्ट सेक्रेटरी चीफ सेक्रेटरी के पास गया.

चीफ सेक्रेटरी ने जॉइन्ट सेक्रेटरी से कुछ कहा. जॉइन्ट सेक्रेटरी ने डिप्टी सेक्रेटरी से कुछ कहा. डिप्टी सेक्रेटरी ने अंडर सेक्रेटरी से कुछ कहा. एक फाइल बन गयी.

फाइल चलने लगी. फाइल चलती रही. इसी में आधा दिन गुज़र गया. दोपहर को खाने पर दबे हुए आदमी के गिर्द बहुत भीड़ हो गयी थी. लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे. कुछ मनचले क्लर्कों ने मामले को अपने हाथ में लेना चाहा.

वह हुकूमत के फ़ैसले का इंतज़ार किए बग़ैर दरख़्त को ख़ुद से हटाने का तहैया कर रहे थे कि इतने में सुपरिटेंडेंट फाइल लिए भागा-भागा आया, बोला, 'हम लोग ख़ुद से इस दरख़्त को यहां से हटा नहीं सकते. हम लोग महक़मा तिज़ारत (वाणिज्य विभाग) से मुताल्लिक़ (संबंधित) हैं और यह दरख़्त का मामला है जो महकमा-ए-ज़िराअत (कृषि विभाग) की तहवील (कब्ज़े) में है. इसलिए मैं इस फाइल को अर्जेन्ट मार्क करके महक़मा-ए-ज़िराअत में भेज रहा हूं . वहां से जवाब आते ही इस को हटवा दिया जाएगा.'

दूसरे दिन महक़मा-ए-ज़िराअत से जवाब आया कि दरख्त हटवाने की ज़िम्मेदारी महकमा-ए-तिज़ारत पर आईद (लागू) होती है. यह जवाब पढ़कर महक़मा-ए-तिज़ारत को ग़ुस्सा आ गया. उन्होंने फ़ौरन लिखा कि पेड़ों को हटवाने या न हटवाने की ज़िम्मेदारी महक़मा-ए-ज़िराअत पर आईद होती है. महक़मा-ए-तिज़ारत का इस मामले से कोई ताल्लुक़ नहीं है.

दूसरे दिन भी फाइल चलती रही. शाम को जवाब भी आ गया. 'हम इस मामले को हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट के सुपुर्द कर रहे हैं क्योंकि यह एक फलदार दरख़्त का मामला है और एग्रीकल्चरल डिपार्टमेंट सिर्फ अनाज और खेतीबाड़ी के मामलों में फ़ैसला करने का मजाज़ (अधिकार) है. जामुन का पेड़ एक फलदार पेड़ है इसलिए पेड़ हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट के दाइरे-अख़्तियार (अधिकारक्षेत्र) में आता है.'

रात को माली ने दबे हुए आदमी को दाल-भात खिलाया हालांकि लॉन के चारों तरफ पुलिस का पहरा था कि कहीं लोग क़ानून को अपने हाथ में ले के दरख़्त को खुद से हटवाने की कोशिश न करें. मगर एक पुलिस कॉन्स्टेबल को रहम आ गया और इसने माली को दबे हुए आदमी को खाना खिलाने की इजाज़त दे दी.

माली ने दबे हुए आदमी से कहा, 'तुम्हारी फाइल चल रही है. उम्मीद है कि कल तक फ़ैसला हो जाएगा.'

दबा हुआ आदमी कुछ न बोला.

माली ने पेड़ के तने को ग़ौर से देखकर कहा, 'हैरत गुज़री कि तना तुम्हारे कूल्हे पर गिरा. अगर कमर पर गिरता तो रीढ़ की हड्डी टूट जाती.'

दबा हुआ आदमी फिर भी कुछ न बोला.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

माली ने फिर कहा, 'तुम्हारा यहां कोई वारिस हो तो मुझे उसका अता-पता बताओ. मैं उसे ख़बर देने की कोशिश करूंगा.'

'मैं लावारिस हूं.' दबे हुए आदमी ने बड़ी मुश्किल से कहा.

माली अफ़सोस ज़ाहिर करता हुआ वहां से हट गया.

तीसरे दिन हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट से जवाब आ गया. बड़ा कड़ा जवाब था और तंज़आमेज़ (व्यंग्यपूर्ण). हॉर्टीकल्चरल डिपार्टमेंट का सेक्रेटरी अदबी मिजाज़ का आदमी मालूम होता था.

इसने लिखा था, 'हैरत है, इस समय जब 'दरख़्त उगाओ' स्कीम बड़े पैमाने पर चल रही हैं, हमारे मुल्क़ में ऐसे सरकारी अफ़सर मौजूद हैं जो दरख़्त काटने का मशवरा देते हैं, वह भी एक फलदार दरख़्त को! और फिर जामुन के दरख़्त को! जिस की फल अवाम बड़ी रग़बत (चाव) से खाते हैं! हमारा महक़मा किसी हालत में इस फलदार दरख़्त को काटने की इज़ाजत नहीं दे सकता.'

'अब क्या किया जाए?' एक मनचले ने कहा. 'अगर दरख़्त काटा नहीं जा सकता तो इस आदमी को काटकर निकाल लिया जाए! यह देखिए, उसी आदमी ने इशारे से बताया. अगर इस आदमी को बीच में से यानी धड़ के मुकाम से काटा जाए तो आधा आदमी इधर से निकल आएगा और आधा आदमी उधर से बाहर आ जाएगा, और दरख्त वहीं का वहीं रहेगा.'

'मगर इस तरह से तो मैं मर जाऊंगा!' दबे हुए आदमी ने एहतजाज़ किया.

'यह भी ठीक कहता है!' एक क्लर्क बोला.

आदमी को काटने वाली तजवीज़ (प्रस्ताव) पेश करने वाले ने पुरज़ोर-एहतजाज़ (कड़ा विरोध) किया, 'आप जानते नहीं हैं. आजकल प्लास्टिक सर्जरी के ज़रिये धड़ के मुकाम पर इस आदमी को फिर से जोड़ा जा सकता है.'

अब फाइल को मेडिकल डिपार्टमेंट में भेज दिया गया. मेडिकल डिपार्टमेंट ने फ़ौरन इस पर एक्शन लिया और जिस दिन फाइल मिली उसने उसी दिन इस महक़मे का सबसे क़ाबिल प्लास्टिक सर्जन तहकीकात के लिए भेज दिया.

सर्जन ने दबे हुए आदमी को अच्छी तरह टटोलकर, उसकी सेहत देखकर, ख़ून का दबाव, सांस की आमदो-रफ़्त, दिल और फेफड़ों की जांचकर के रिपोर्ट भेज दी कि, 'इस आदमी का प्लास्टिक सर्जरी का ऑपरेशन तो हो सकता है और ऑपरेशन कामयाब भी हो जाएगा, मगर आदमी मर जाएगा.'

लिहाज़ा यह तज़वीज़ भी रद्द कर दी गयी.

रात को माली ने दबे हुए आदमी के मुंह में खिचड़ी के लुक़मे डालते हुए उसे बताया, 'अब मामला ऊपर चला गया है. सुना है कि सेक्रेटेरियट के सारे सेक्रेटेरियों की मीटिंग होगी. इसमें तुम्हारा केस रखा जाएगा. उम्मीद है सब काम ठीक हो जाएगा.'

दबा हुआ आदमी एक आह भरकर आहिस्ते से बोला, 'हमने माना कि तग़ाफुल न करोगे लेकिन ख़ाक़ हो जाएंगे हम, तुमको ख़बर होने तक!'

माली ने अचंभे से मुंह में उंगली दबायी. हैरत से बोला, 'क्या तुम शायर हो?'

दबे हुए आदमी ने आहिस्ते से सिर हिला दिया.

दूसरे दिन माली ने चपरासी को बताया. चपरासी ने क्लर्क को और क्लर्क ने हेड-क्लर्क को. थोड़े ही अरसे में सेक्रेटेरियट में यह बात फैल गयी कि दबा हुआ आदमी शायर है.

बस फिर क्या था. लोग जोक-दर-जोक (झुंड बनाकर) शायर को देखने के लिए आने लगे. इसकी ख़बर शहर में फैल गयी. और शाम तक मुहल्ले-मुहल्ले से शायर जमा होना शुरू हो गए. सेक्रेटेरियट का लॉन भांत-भांत के शायरों से भर गया. सेक्रेटेरियट के कई क्लर्क और अंडर-सेक्रेटरी तक, जिन्हें अदब और शायर से लगाव था, रुक गए.

कुछ शायर दबे हुए आदमी को अपनी ग़ज़लें और नज़्में सुनाने लगे. कई क्लर्क इससे अपनी ग़ज़लों पर इस्लाह (सुधार) लेने के लिए मुसिर होने (ज़िद करने) लगे.

जब यह पता चला कि दबा हुआ आदमी शायर है तो सेक्रेटेरियट की सब-कमेटी ने फ़ैसला किया कि चूंकि दबा हुआ आदमी एक शायर है लिहाज़ा इस फाइल का ताल्लुक़ न एग्रीकल्चरल डिपार्टमेंट से है, न हार्टीकल्चरल डिपार्टमेंट से बल्कि सिर्फ़ और सिर्फ़ कल्चरल डिपार्टमेंट से है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

कल्चरल डिपार्टमेंट से इसतदअ (गुज़ारिश) की गयी कि जल्द से जल्द इस मामले का फ़ैसला करके बदनसीब शायर को इस शजरे-सायादार (छांव देने वाला पेड़) से रिहाई दिलायी जाए.

फाइल कल्चरल डिपार्टमेंट के मुख़्तलिफ़ शुआबों (विभाग) से गुज़रती हुई अदबी अकादमी के सेक्रेटरी के पास पहुंची. बेचारा सेक्रेटरी इसी वक़्त अपनी गाड़ी में सवार हो कर सेक्रेटेरियट पहुंचा और दबे हुए आदमी से इंटरव्यू लेने लगा.

'तुम शायर हो?' इसने पूछा.

'जी हां.' दबे हुए आदमी ने जवाब दिया.

'क्या तख़ल्लुस करते हो?'

'अवस.'

'अवस!' सेक्रेटरी ज़ोर से चीखा. 'क्या तुम वही हो जिसका मजमुआ-ए-कलाम (शायरी संग्रह) अवस के फूल हाल ही में शाया (प्रकाशित) हुआ है?'

दबे हुए शायर ने इस बात में सिर हिलाया.

'क्या तुम हमारी अकादमी के मेंबर हो?' सेक्रेटरी ने पूछा.

'नहीं!'

'हैरत है!' सेक्रेटरी ज़ोर से चीखा. 'इतना बड़ा शायर! 'अवस के फूल' का मुसन्निफ़ (लेखक) ! और हमारी अकादमी का मेंबर नहीं है! उफ़, उफ़ कैसी ग़लती हो गयी हमसे! कितना बड़ा शायर और कैसे गोशिया-ए-गुमनामी (गुमनामी के कोने) में दबा पड़ा है!'

'गोशिया-ए-गुमनामी में नहीं बल्कि एक दरख़्त के नीचे दबा हुआ... बराहे-क़रम मुझे इस पेड़ के नीचे से निकालिए.'

'अभी बंदोबस्त करता हूं.' सेक्रेटरी फ़ौरन बोला और फ़ौरन जाकर इसने अपने महकमे में रिपोर्ट पेश की.

दूसरे दिन सेक्रेटरी भागा-भागा शायर के पास आया और बोला, 'मुबारक़ हो, मिठाई खिलाओ, हमारी सरकारी अकादमी ने तुम्हें अपनी मर्क़ज़ी कमेटी (केंद्रीय समिति) का मेंबर चुन लिया है. यह लो परवाना-ए-इन्तख़ाब!'

'मगर मुझे इस दरख़्त के नीचे से तो निकालो.' दबे हुए आदमी ने कराहकर कहा. उसकी सांस बड़ी मुश्क़िल से चल रही थी और उसकी आंखों से मालूम होता था कि वह शदीद तशन्नुज और करब (काफ़ी तकलीफ़) में मुब्तला है.

'यह हम नहीं कर सकते.' सेक्रेटरी ने कहा. 'जो हम कर सकते थे वह हमने कर दिया है. बल्कि हम तो यहां तक कर सकते हैं कि अगर तुम मर जाओ तो तुम्हारी बीवी को वज़ीफा दिला सकते हैं. अगर तुम दरख़्वास्त दो तो हम यह भी कर सकते हैं.'

'मैं अभी ज़िंदा हूं.' शायर रुक-रुककर बोला. 'मुझे ज़िंदा रखो.'

'मुसीबत यह है,' सरकारी अकादमी का सेक्रेटरी हाथ मलते हुए बोला, 'हमारा महक़मा सिर्फ़ कल्चर से मुताल्लुक़ है. इसके लिए हमने 'फॉरेस्ट डिपार्टमेंट' को लिख दिया है. 'अर्जेंट' लिखा है.'

शाम को माली ने आकर दबे हुए आदमी को बताया कि कल फॉरेस्ट डिपार्टमेंट के आदमी आकर इस दरख़्त को काट देंगे और तुम्हारी जान बच जाएगी.

माली बहुत ख़ुश था कि गो दबे हुए आदमी की सेहत जवाब दे रही थी मगर वह किसी-न-किसी-तरह अपनी ज़िंदगी के लिए लड़े जा रहा है. कल तक... सुबह तक... किसी न किसी तरह इसे ज़िंदा रहना है.

दूसरे दिन जब फॉरेस्ट डिपार्टमेंट के आदमी आरी-कुल्हाड़ी लेकर पहुंचे तो इनको दरख़्त काटने से रोक दिया गया. मालूम यह हुआ कि महकमा-ए-ख़ारज़ा (विदेश विभाग) से हुक़्म आया कि इस दरख़्त को न काटा जाए.

वजह यह थी कि इस दरख़्त को दस साल पहले हुकूमते पिटोनिया के वज़ीरे-आज़म (प्रधानमंत्री) ने सेक्रेटेरियट के लॉन में लगाया था. अब यह दरख़्त अगर काटा गया तो इस अम्र (बात) का शदीद अंदेशा था कि हुकूमते-पिटोनिया से हमारे ताल्लुक़ात हमेशा के लिए बिगड़ जाएंगे.

'मगर एक आदमी की जान का सवाल है!' एक क्लर्क ग़ुस्से से चिल्लाया.

'दूसरी तरफ़ दो हुकूमतों के ताल्लुक़ात का सवाल है.' दूसरे क्लर्क ने पहले क्लर्क को समझाया. 'और यह भी तो समझो कि हुकूमते-पिटोनिया हमारी हुकूमत को कितनी इमदाद (ग्रांट) देती है. क्या हम इन की दोस्ती की ख़ातिर एक आदमी की ज़िंदगी को भी कुर्बान नहीं कर सकते?'

'शायर को मर जाना चाहिये.'

'बिलाशुबा.' (निसंदेह)

अंडर-सेक्रेटरी ने सुपरिटेंडेंट को बताया. 'आज सुबह वज़ीरे-आज़म बाहर-मुल्कों के दौरे से वापस आ गए हैं. आज चार बजे महकमा-ए-ख़ारज़ा इस दरख़्त की फाइल उन के सामने पेश करेगा. जो वह फ़ैसला देंगे वही सबको मंज़ूर होगा.'

शाम पांच बजे ख़ुद सुपरिटेंडेंट शायर की फाइल ले कर उसके पास आया. 'सुनते हो?' आते ही ख़ुशी से फाइल हिलाते हुए चिल्लाया, 'वज़ीरे-आज़म ने दरख़्त को काटने का हुक़्म दे दिया है और इस वाकये की सारी बैनुल-अक़्वामी (अंतरराष्ट्रीय) ज़िम्मेदारी अपने सिर पर ले ली है. कल वह दरख़्त काट दिया जाएगा और तुम इस मुसीबत से छुटकारा हासिल कर लोगे.'

'सुनते हो? आज तुम्हारी फाइल मुकम्मल हो गयी!' सुपरिटेंडेंट ने शायर के बाजू को हिलाकर कहा. मगर शायर का हाथ सर्द था. आंखों की पुतलियां बेजान थीं और चींटियों की एक लंबी क़तार उसके मुंह में जा रही थी.

उसकी ज़िंदगी की फाइल भी मुकम्मल हो चुकी थी.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

तमाम दावों के बावजूद दुनिया में हमारी हिंदी कहां है?

- भाषाई आधार पर हम दुनिया को दो हिस्सों में देख सकते हैं. एक तो वे देश हैं, जो अपनी ही भाषा को सबसे आगे रखते हैं– जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि. वे ही आजकल के सबसे विकसित देश हैं. दूसरे वे देश हैं जिन्होंने अपनी भाषा के बदले किसी ऐसे देश की भाषा को अपना लिया, जिसके वे कभी गुलाम थे. वे ही आजकल के अविकसित या विकासशील देश कहलाते हैं.
- भारत जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का ऐसा सबसे बड़ा देश है, जिसने अपनी गुलामी वाली अंग्रेजी को ही सरकारी कामकाज की भाषा बना दिया. तब भी, सात दशक बाद, केवल तीन प्रतिशत लोग ठीक-ठाक अंग्रेज़ी जानते हैं.
- भारत के भीतर और बाहर हिंदी बोलने-समझने वालों की सही संख्या बताना बहुत मुश्किल है. एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार, 2015 में दुनिया में करीब एक अरब तीस करोड़ लोग हिंदी बोल रहे थे. यदि यह सही है, तो 2015 से हिंदी, चीन की मुख्य भाषा मंदारिन को पीछे छोड़ कर दुनिया में सबसे बड़ी भाषा बन गयी है.
- चीनी समाचार एजेंसी सिन्हुआ के अनुसार, 70 प्रतिशत चीनी जनता मंदारिन बोलती है जबकि भारत में हिंदी बोलने वालों की संख्या करीब 78 प्रतिशत बतायी जाती है. भारत सहित दुनिया में 64 करोड़ लोगों की मातृभाषा हिंदी है. भारत के अलावा मॉरीशस, सूरीनाम, फिजी, गुयाना, ट्रिनिडाड और टोबैगो आदि देशों में हिंदी का काफ़ी प्रचलन है.
- मार्क टली कहते हैं कि वे तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करते हैं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं. तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि बेहतर है कि भारतीय हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी को ही अपना लें!
- हिंदी सबसे बड़ी भाषा न भी हो, तब भी दुनिया की दूसरी या तीसरी सबसे बड़ी भाषा ज़रूर है. जिस रिपोर्ट का ऊपर जिक्र हुआ वह कहती है कि तेजी से हिंदी सीखने वाले देशों में चीन सबसे आगे है. वहां के 20 विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जा रही है. 2020 तक यह संख्या 50 भी हो सकती है.
- मैं 1971 से जर्मनी में हूं. उसी समय से एक ईसाई मिशनरी फ़ादर बुल्के का लिखा 900 पेज का अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश इस्तेमाल कर रहा हूं. फादर कामिल बुल्के 26 साल की उम्र में, 1927 में, ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बेल्जियम से भारत भेजे गये थे. हिंदी ने ऐसा मोहित किया कि उन्होंने अपना पूरा जीवन हिंदी की सेवा में समर्पित दिया. 1950 में उन्होंने भारत की नागरिकता ले ली. 1974 में भारत का तीसरा सबसे बड़ा सम्मान पद्मभूषण भी पाया.
- फादर कामिल बुल्के ने एक बार लिखा कि उन्हें यह देखकर बहुत दुख हुआ कि भारत के पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी बोलना गर्व की बात समझते हैं. उन्होंने निश्चय किया कि अब वे भारत के लिए हिंदी की महत्ता को सिद्ध करेंगे.
- केवल पांच वर्षों में, वे न सिर्फ हिंदी और संस्कृत में ही पारंगत हो गए. अवधी, ब्रज, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भी सीख ली. 1950 में उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अपनी पीएचडी के लिए अपना शोध प्रबंध (थीसिस) 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास' अंग्रेजी के बदले हिंदी में ही लिखा. फ़ादर बुल्के के कारण इलाहाबाद विश्वविद्यालय को अपने नियम बदलने पड़े. इसके बाद दूसरे विश्वविद्यालयों में भी भारतीय भाषाओं में थीसिस लिखने की अनुमति मिलने लगी.
- कामिल बुल्के के अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोश, और उससे 13 साल पहले के हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश को हिंदी भाषा की बेजोड़ सेवा माना जाता है. ठीक 35 साल पहले वे दुनिया से विदा हो गये. एक विदेशी ईसाई धर्म प्रचारक रहे फ़ादर कामिल बुल्के का जीवन दिखाता है कि दुनिया हिंदी को मान्यता देने को तैयार है. कमी हिंदी में नहीं, हमारे भीतर है.
- भारत से बाहर हिंदी की पूछ अधिकतर उन्हीं देशों में है, जहां प्रवासी या निवासी भारतीयों की संख्या काफ़ी अधिक है. उदाहरण के लिए, लघु-भारत कहलाने वाले मॉरीशस के 13 लाख निवासियों में से 68 प्रतिशत भारतवंशी हैं. वहां के महात्मा गांधी संस्थान ने हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए डिप्लोमा कोर्स, बीए ऑनर्स और एमए तक की व्यवस्था कर रखी है.

THE CORE IAS
(A unit of just dream)

- भारत के पड़ोसी देशों में नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय में और श्रीलंका के कोलम्बो विश्वविद्यालय में हिंदी का अलग विभाग है. जापान में भी कम से कम आधे दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी के पाठ्यक्रम चलते हैं.
- 53 वर्षों तक हिंदी में रेडियो कार्यक्रम प्रसारित करने के बाद वॉयस ऑफ अमेरिका ने आज से नौ साल पहले हिंदी कार्यक्रम बंद कर दिया. बदले में उसने उर्दू का समय काफ़ी बढ़ा दिया
- अमेरिका के 25 लाख भारतवंशी वहां का दूसरा सबसे बड़ा प्रवासी समूह हैं. वहां के 75 विश्वविद्यालयों में हिंदी की व्यवस्था है. तीन प्रमुख संस्थाएं– अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी समिति, विश्व हिंदी समिति और हिंदी न्याय– अमेरिका में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का काम करती हैं. कम से कम चार प्रमुख हिंदी पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं– विश्व, सौरभ, क्षितिज और हिंदी जगत. हिंदी की कम से कम एक मासिक या त्रैमासिक पत्रिका आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, म्यांमार (बर्मा), गुयाना और सूरीनाम से भी प्रकाशित होती है.
- यूरोप में क़रीब एक दर्जन देशों के तीन दर्जन विश्वविद्यालयों और संस्थानों में हिंदी की व्यवस्था है. लेकिन बर्लिन दीवार के गिरने और यूरोप में शीतयुद्ध का अंत होने के बाद से हिंदी के छात्र कम होते जा रहे हैं. जर्मनी इससे सबसे अधिक प्रभावित है. देश के एकीकरण के ठीक बाद लगभग दो दर्जन विश्वविद्यालयों में भारतविद्या के अंतर्गत हिंदी सीखी जा सकती थी. आज उनकी संख्या केवल एक दर्जन रह गयी है. ठीक इस समय, कोलोन और बॉन विश्वविद्यालयों के भारतविद्या संस्थान पर भी बंद होने का खतरा मंडरा रहा है.
- हिंदी के प्रति घटती रुचि के अनेक कारण हैं. पर एक बड़ा कारण ऐसा है, जिसके लिए हम भारतीय स्वयं दोषी हैं. जर्मन विश्वविद्यालयों में हिंदी के छात्र व्यावहारिक अनुभव पाने के लिए अक्सर रेडियो डॉएचे वेले के हमारे हिंदी कार्यक्रम में आया करते थे. हिंदी की एक ऐसी ही छात्रा ने, कोई दो दशक पहले, मुझे बताया कि एक बार वह कोलोन के एक व्यापार मेले में होस्टेस व दुभाषिये का काम कर रही थी. उसे एक भारतीय स्टॉल पर भेजा गया. स्टॉल के मालिक दो भारतीय सज्जन थे. उसने हिंदी में जैसे ही अपना परिचय देना चाहा, दोनों एकदम भड़क गये. उसे डांटने लगे कि वह समझती क्या है कि उन्हें अंग्रेज़ी नहीं आती? वे अनपढ़ हैं कि वह उनसे हिंदी बोल रही है? उसे माफ़ी मांगनी पड़ी और कहना पड़ा कि वह अंग्रेज़ी में ही बात करेगी, हिंदी का नाम तक नहीं लेगी.
- हिंदी के विपरीत, जर्मनी में पिछले 30 वर्षों में उन विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ कर 28 हो गयी है जहां चीनी भाषा की पढ़ाई होती है. चीन में चीनी भाषा नहीं जानने पर विदेशियों को नीचा देखना पड़ता है. और भारत में हिंदी जानने पर नीचा देखना पड़ सकता है.
- भारत में लंबे समय तक बीबीसी के संवाददाता रहे मार्क टली भारत की नागरिकता ले कर वहीं बस गये हैं. उनका भी यही अनुभव है कि वहां अंग्रेजी को तो पढ़े-लिखे लोगों और हिंदी को अनपढ़ गंवारों की भाषा समझा जाता है. मार्क टली कहते हैं कि वे तो लोगों से बात हिंदी में शुरू करते हैं, पर लोग बार-बार अंग्रेज़ी में ही जवाब देते हैं. तंग आकर उन्होंने अब कहना शुरू कर दिया है कि बेहतर है कि भारतीय हिंदी भूल कर अंग्रेज़ी को ही अपना लें!
- 53 वर्षों तक हिंदी में रेडियो कार्यक्रम प्रसारित करने के बाद वॉयस ऑफ अमेरिका ने आज से नौ साल पहले हिंदी कार्यक्रम बंद कर दिया. बदले में उसने उर्दू का समय काफ़ी बढ़ा दिया. उसकी देखादेखी कुछ समय बाद जर्मनी के डॉयचे वेले ने भी 1964 से चल रही हिंदी सेवा बंद कर दी. पर उर्दू कार्यक्रम आज भी चल रहा है.
- लेकिन रूस, चीन जापान, उज़बेकिस्तान, मिस्र और वेटिकन से भारत के लिए हिंदी कार्यक्रम आज भी प्रसारित हो रहे हैं. इस सूची में तीन नए देश भी हैं– ऑस्ट्रेलिया, ईरान और ताजिकिस्तान. तीन ईसाई धर्मप्रचारक रेडियो स्टेशन भी भारत के लिए हिंदी में प्रसारण कर रहे हैं– मोल्दाविया से ट्रांसवर्ल्ड रेडियो, और जर्मनी से गॉस्पल फॉर एशिया और क्रिश्चियन विजन.

THE CORE IAS
(Aiming for just the best)

- अंग्रेज़ी वास्तव में हमारी प्रगति की राह का सबसे बड़ा रोड़ा सिद्ध हुई है. उसके कारण देश की वह 97 प्रतिशत जनता, जो अंग्रेज़ी लिख-पढ़ नहीं सकती, बाक़ी तीन प्रतिशत से पीछे रह जाती है
- मैं नहीं मानता कि अंग्रेज़ी के बिना भारत विज्ञान और तकनीक में तेज़ी से प्रगति नहीं कर सकता. चीन, जापान, ताइवान और दक्षिण कोरिया ने हमारे देखते ही देखते, पिछले केवल 30, 40 साल में ही यूरोप-अमेरिका को जिस तरह पीछे छोड़ दिया, उसके लिये क्या उन्होंने सबसे पहले सारे देश को अंग्रेज़ी सिखाई? और क्या वहां भी, भारत की तरह, सारा घरेलू और सरकारी कामकाज अंग्रेज़ी में होता है?
- इन देशों के लोग हम से बेहतर अंग्रेज़ी नहीं जानते. वहां कभी किसी लॉर्ड मैकाले का राज नहीं था. हम तो लॉर्ड मैकाले की कृपा से दो सदियों से अंग्रेज़ी ही पढ़-लिख और इस्तेमाल कर रहे हैं. यदि अंग्रेज़ी का ज्ञान ही विज्ञान और तकनीक तक पहुंचने की बुलेट ट्रेन है तो हमें तो चीन-जापान-कोरिया से बहुत आगे होना चाहिये था!
- अंग्रेज़ी वास्तव में हमारी प्रगति की राह का सबसे बड़ा रोड़ा सिद्ध हुई है. उसके कारण देश की वह 97 प्रतिशत जनता, जो अंग्रेज़ी लिख-पढ़ नहीं सकती, बाक़ी तीन प्रतिशत से पीछे रह जाती है, अपना पूरा योगदान नहीं दे पाती. छात्रों की 40 प्रतिशत ऊर्जा अकेले अंग्रेज़ी सीखने पर ख़र्च हो जाती है. बाक़ी सभी विषय पीछे रह जाते हैं.
- अंग्रेज़ी जिसकी न तो मातृभाषा है और न रोमन जिसकी लिपि, उस चीन-जापान-कोरिया से आज ब्रिटेन और अमेरिका तक कांप रहे हैं. ये देश इसलिए आगे बढ़े, क्योंकि आपसी बातचीत और सरकारी कामकाज में वे अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा के महत्व पर अटल रहे. अंग्रेज़ी उनके लिए अंतरराष्ट्रीय महत्व वाली एक विदेशी भाषा है, न कि भारत की तरह स्वदेशी भाषा. अपनी भाषा न तो स्वाभाविक प्रतिभा के रास्ते में बाधक होती है, और न कोई विदेशी भाषा प्रतिभा की कमी को दूर कर सकती है.
- क्या अंग्रेज़ी में तुलसी दास के रामचरितमानस या रसखान के गीत गोविंद से हमें वही आनंद मिल सकता है जो हिंदी में मिलता है? राष्ट्रगान जन मन गण... के अंगेज़ी अनुवाद से क्या हमारे मन में वही भाव पैदा हो सकता है, जो आज पैदा होता है? नहीं. हिंदी हमें भारतीयता से जोड़ती है. वह हमारी भावनात्मक ज़रूरत भी है.

हिंदी डाल-डाल और हिंदी सेवक पात-पात

- हिंदी दिवस है. आप इसे हिंदी का हैप्पी बर्थ डे, यौमे पैदाइश, सालगिरह, जन्म दिवस जो चाहें कह सकते हैं. इस दिन हिंदी की ढूंढ-खोज होती है. हिंदी इतनी शैतान है कि आजादी के बाद से आसानी से मिल नहीं रही है. हिंदी दिवस के कार्यक्रम के भाषण अभी ठीक से रटे भी नहीं जा पाते हैं कि वह भाग निकलती है और किसी सरकारी प्राइमरी स्कूल में मिड डे मील खाने लगती है. अफसरों से लेकर बुद्धिजीवी तक उसका पीछा करते हैं और वह चकमा देकर थोड़ी देर के लिए किसी कान्वेंटगामी बच्चे के पास जाकर बैठ जाती है. बच्चा उससे पूछता है - अरे, यार इतने दिन कहां थी तू हिंदी. मेरे, मार्क्स फिर से हिंदी में कम आए हैं. कुछ कर न. क्यों मेरा ग्रेड खराब कर रही है. हिंदी मुस्कराते हुए कहती है - चुप हो, इतनी हिंदी न झाड़, कहीं फाइन-वाइन लग गया तो मुझे मत कहना.
- और फिर हिंदी वहां से भी भाग निकलती है. हिंदी डाल-डाल और सारे हिंदी सेवक पात-पात. हिंदी दिवस वाले दिन हरेक डिजाइन के बुद्धिजीवी अपने मतभेद भुला देते हैं और संयुक्त मोर्चा बनाकर हिंदी का पीछा करते हैं. लेकिन वह फिर भी किसी के हाथ नहीं आती.
- खुद को राष्ट्रवादी रूझान का बताने वाले हिंदी सेवक उसका पीछा करते हुए कहते हैं, 'हे, मां भारती की जिह्वा, मेरी संस्कृति का गौरव तुम कहां जा रही हो. तुम्हारे लिए कितनी सारी गोष्ठियां, कार्यक्रम किए जा रहे हैं. तुम्हारे स्वागत के लिए लाये गए दीप प्रज्वलन वाले दीपक का तेल सूख रहा है. तुम्हारे इंतजार में खाली बैठे मुख्य अतिथि महोदय सिगरेट की तलब में मरे जा रहे हैं.'

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- दूसरी तरफ हिंदी के पीछे-पीछे दौड़ते वामपंथी अपने हालिया प्रकाशित काव्य संग्रह के साथ नारा लगाते हैं - लाल सलाम, लाल सलाम, हिंदी तुझको लाल सलाम. छठे वेतनमान और मोटी तनख्वाहों से लैस प्रोफेसर अपने युवा दस्ते का साथ देते हुए आह्वान करते हैं - तुम कहां जा रही हो हिंदी. तुम गरीबों-मजदूरों-सर्वहाराओं की भाषा हो. रुक जाओ, तुम्हें क्रांति की कसम.
- इधर, हिंदी का पीछा चल रहा होता है. उधर, हिंदी दिवस के एक सेमिनार में आमंत्रित आलोचक सोच रहा होता है कि जिस कार्यक्रम में मैं बुलाया गया हूं उसके आयोजक की विचारधारा के बारे में ठीक से पता नहीं कर सका हूं. भाषण में दृष्टिकोषण से ज्यादा जरूरी राजनीतिक कोण है. खैर, उससे ज्यादा कौन जानता है कि विचारधारा तो द्रव जैसी मानसिक अवस्था है. जिस बर्तन में रख दो उसी का आकार ले लेती है. और वह तो इस मामले में गैस है.
- इसी कार्यक्रम में आमंत्रित एक कवियत्री इस जुगाड़ में होती है कि आज के हिंदी दिवस पर इधर-उधर की फालतू बातों के बीच कम से कम एक काम की बात हो जाए और उन्हें पाब्लो नेरूदा का भारतीय-महिला संस्करण घोषित कर दिया जाए. हाल ही में एक कार्यक्रम में उसे आधुनिक महादेवी घोषित किया ही जा चुका है. उसके बाद उसने तय किया है कि अब भारतीय कवियत्रियों से अपनी तुलना करवाने से बचेगी. पिछले दिनों उसने एक कार्यक्रम में जाने से इसीलिए इनकार कर दिया था क्योंकि वहां पर उसकी तुलना मीराबाई से की जानी थी. अब वह चाहती है कि गद्य लेखन के लिए उसकी तुलना वर्जीनिया वुल्फ से की जाए.
- इन सारी गतिविधियों के बीच हिंदी इन सबसे बचकर दौड़ती-भागती रहती है. लेकिन, आखिरकार बुद्धिजीवी, राजभाषा विभाग, साहित्य अकादमियां, प्रकाशक, बेस्ट सेलर वगैरह मिलकर उसे पकड़ ही लेते हैं. सड़क पर चलने वाले आम राहगीर जिन्हें हिंदी के अलावा और कोई जबान बोलनी नहीं आती है, ये सारा तमाशा देखकर समझते हैं कि कोई हिंदी नाम का खतरनाक अपराधी फरार हो गया था, चलो अच्छा हुआ कि वह देश के मुस्तैद तंत्र की पकड़ में आ गया.
- हिंदी को हिरासत में लेने के बाद उसे तुरंत हिंदी दिवस पर हो रहे सरकारी-गैर सरकारी कार्यक्रमों में वक्ता रूपी मजिस्ट्रेटों की ज्यूरी के सामने पेश कर दिया जाता है. वे तुरंत हिंदी को कठघरे में खड़ा कर देते हैं और भाषण के रुप में अपना फैसला सुनाने लगते हैं. हिंदी तुम्हारी हालत बहुत खराब है, तुम्हें फौरन बुद्धिजीवियों द्वारा संचालित भाषा के किसी दवाखाने में भर्ती करा देना चाहिए. इसी बीच वे अपने फोन पर देखते हैं कि कवियत्री ने उनके भाषण के बारे में यह फेसबुक टिप्पणी की है कि अगर हिंदी समाज को उन जैसा सार्वजनिक बुद्धिजीवी नहीं मिला होता तो गड्ढे में पड़ी हिंदी की हालत लगातार गिरते भूजल स्तर जैसी हो जाती. आलोचक वक्ता महोदय की इच्छा थी कि कार्यक्रम की भसड़ में फिलहाल कवियत्री की प्रतिभा की उपेक्षा कर दी जाए. लेकिन, फेसबुक टिप्पणी देखकर वे कवियत्री को नेरूदा और कालिदास का मिला-जुला संस्करण घोषित कर देते हैं.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- इस बात से एक युवा कवि काफी निराश होता है. उसे लग रहा था कि उसकी कविताओं में नई प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए आज आलोचक जी उसके नाम से किसी नए 'वाद' की घोषणा करेंगे. लेकिन नौजवान कवि संयम बरकरार रखते हुए तुरंत अपनी आशु कविता के जरिये आलोचक का आभार प्रकट करता है. उसके आभार प्रकट करने के दौरान माहौल काफी भारी हो जाता है, कार्यक्रम में मौजूद तमाम गणमान्यों के चमचों को नींद आने लगती है. गणमान्य को भी उबासी आती है, लेकिन सार्वजनिक मौके पर इंद्रियों को जीत लेने की कला ही उन्हें गणमान्य बनाती है.
- हिंदी की सेवा करने वाला एक दूसरा खेमा भी होता है. यह मानता है कि हिंदी के कारनामे देखने हैं तो वाट्सएप और फेसबुक पर देखो. कितनी चंचल और शोख है, वहां हमारी हिंदी. इस मत के समर्थकों में से किसी से नाराज होकर कोई आलोचक महोदय लिख-कह देते हैं कि इसकी कविता ट्रांसपोर्ट कारोबारियों के लिए काफी मुफीद है. ट्रकों के पीछे लिखी जाने वाली शायरी में वह सदैव प्रासंगिक रहेगा. इसके बाद वह कवि फिल्मों, विज्ञापन वाली हिंदी में चला जाता है और काफी पैसे बनाता है.

- लेकिन, वह बार-बार साहित्य की दुनिया में लौटकर आता है और अपनी जेब से पैसे लगाकर, या नाममात्र की हिंदी वाले साहित्योत्सवों में अकादमिक टाइप के लोगों से इंतकाम लेता है. इसके बाद अकादमिक आलोचक के समर्थकों और उस लोकप्रिय लेखक के समर्थकों के बीच मंच और मंचेत्तर जगहों पर काफी गाली-गलौज होता है. इन गालियों के बहुत हल्के और निम्न स्तर पर हिंदी दिवस पर चिंता जताई जाती है. इसके बाद मंत्री जी अपने अफसरों से कहते हैं - अब से हर काम हिंदी में. अफसर उनसे कहते हैं - यस सर. और इस प्रकार हिंदी दिवस अपनी गति को प्राप्त हो जाता है.

10 कदम जिनसे हिंदी पर जोर देने वाली सरकार इस भाषा की ताकत और बढ़ा सकती है

- भारत में हिंदी समझने और बोलने वालों की संख्या करीब 70 करोड़ है. देश से बाहर भी करोड़ों लोग इसे जानते-समझते हैं. प्रयोग करने वालों की संख्या के लिहाज से यह चीन की मंदारिन के बाद दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी भाषा है.
- लेकिन इसका मतलब कतई नहीं कि यह विश्व की दूसरी सबसे शक्तिशाली भाषा भी है. इस मामले में तो अंग्रेजी सबसे अव्वल है. हमारे देश में 12 से 15 फीसदी लोग ही अंग्रेजी समझ पाते हैं, जबकि अच्छी अंग्रेजी महज तीन फीसदी लोग बोल पाते हैं. इसके बावजूद यह हिंदी समेत तमाम भारतीय भाषाओं पर हावी है.
- ऐसे में हिंदी के तमाम समर्थकों को उम्मीद है कि ये हिंदी भाषा और साहित्य के विकास के लिए कुछ ऐसा करेंगे जो पिछले 70 सालों में नहीं हुआ. आखिर सवाल उठता है कि ऐसे कौन से कदम उठाने चाहिए, जिससे हिंदी तेजी से फैल सके. भाषाविदों सहित तमाम जानकारों से हुई बातचीत के मुताबिक ऐसे दस जरूरी फैसले ये हो सकते हैं:

1. सबसे पहले हिंदी प्रदेश के सभी 10 राज्यों (दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश) को अपने यहां 'त्रिभाषा सूत्र' को सख्ती से लागू करना चाहिए. दौलत सिंह कोठारी के नेतृत्व में बने प्रथम शिक्षा आयोग द्वारा सुझाए गए इस सूत्र के अनुसार देश के स्कूलों में तीन भाषाओं को पढ़ाया जाना था. इन तीन भाषाओं में मातृभाषा, अंग्रेजी और दूसरे राज्य की कोई एक भाषा पढ़ाने का सुझाव दिया गया था. लेकिन हिंदी पट्टी के इन राज्यों ने इस मामले में 'राजनीति' कर दी. इन राज्यों ने अपने यहां दूसरे राज्यों की भाषा पढ़ाने के बजाय संस्कृत को पढ़ाना शुरू कर दिया.
2. दूसरी ओर इन्होंने गैर-हिंदी राज्यों पर पूरा कामकाज हिंदी में ही करने का दबाव डालना शुरू कर दिया. लेकिन ये राज्य कभी नहीं समझ पाए कि उनकी यह 'चतुराई' खुद उन्हें ही भारी पड़ेगी. इससे हुआ यह कि गैर-हिंदी प्रदेश आज तक उत्तर भारतीय राज्यों का यह दोहरा रवैया स्वीकार नहीं कर पाए. विश्लेषकों के मुताबिक यदि उत्तर भारत के राज्य चाहते हैं कि उनकी हिंदी देश के दूसरे इलाकों में भी फैले तो उन्हें अपनी 'गलती' ठीक करनी होगी. उन्हें संस्कृत की जगह दूसरे राज्यों की भाषा पढ़ना शुरू करना चाहिए. ऐसा करने के बाद ही गैर-हिंदी भाषी राज्यों को हिंदी पढ़ने और उसमें काम-काज करने के लिए सहमत किया जा सकेगा.
3. जानकारों के मुताबिक भाजपा चाहे तो यह काम आसानी से कर सकती है क्योंकि इन 10 राज्यों में से छह में अभी उसकी या सहयोगियों की सरकार है. वहीं इन राज्यों में देश की 42 फीसदी जनता रहती है. हालांकि पार्टी के लिए ऐसा करना आसान नहीं है क्योंकि माना जाता है कि वह संस्कृत के प्रति जरूरत से ज्यादा मोह रखती है. जानकारों के अनुसार भाजपा को इस मामले में व्यावहारिक रुख अपनाना होगा.
4. पचास के दशक में गठित वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग का पुनर्गठन किया जाना चाहिए. साथ ही शब्द निर्माण के मामले में अब तक की नीति को छोड़ना होगा. सरकार की मौजूदा नीति ने संस्कृत से जुड़ी ऐसी मशीनी भाषा ईजाद की है जो आम तो छोड़िए, हिंदी के जानकार लोगों को भी समझ में नहीं आती. जानकारों के मुताबिक सरकार को चाहिए कि वह जनसंघ के पूर्व अध्यक्ष और महान भाषाविद् आचार्य रघुवीर की नीति को छोड़ दे. वे भले ही महान भाषाविद थे जिन्होंने हिंदी के छह लाख शब्द गढ़े, पर यह भी सच है कि उन्होंने कई ऐसे शब्द भी बनाए जिसके चलते आज तक हिंदी

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

का मजाक उड़ाया जाता है. इसलिए हिंदी के सरकारी शब्दकोशों और दस्तावेजों से कठिन शब्द को हटाए बिना हिंदी का विकास संभव ही नहीं.

5. शब्दों के मामले में किसी भी भाषा के प्रचलित शब्दों को स्वीकारने की नीति होनी चाहिए. हम ऑक्सफोर्ड शब्दकोश से भी बहुत कुछ सीख सकते हैं, जो हर साल अपने भंडार में आम प्रचलन के कई शब्दों को जोड़ता रहता है. सरकार पत्रकारिता जगत से भी बहुत कुछ सीख सकती है जहां अप्रचलित और कठिन शब्द शायद ही प्रयोग किए जाते हैं.
6. केंद्र और राज्य सरकारों को दसवीं के बजाय 12वीं कक्षा तक हिंदी भाषा और साहित्य को अनिवार्य भाषा बनाना चाहिए. केंद्र सरकार की मौजूदा नीति में कई झोल हैं जिसके चलते अनेक बच्चे अपनी मातृभाषा पढ़ने के बजाय विदेशी भाषा पढ़ने को तवज्जो देते हैं. ऐसी प्रवृत्ति को दूर करना होगा, नहीं तो बच्चे अंग्रेजी, जर्मन तो सीख लेंगे पर हिंदी के बारे में 'गर्व' से कहेंगे कि हिंदी में उनका हाथ तंग है.
7. यह जमाना अब कंप्यूटर, लैपटॉप और स्मार्टफोन का है. हम अब कागज पर लिखने के बजाय कीबोर्ड पर ज्यादा लिखते हैं. इसलिए सरकार को चाहिए कि स्कूलों में बच्चों को कागज पर हिंदी लिखना सिखाने के साथ-साथ उन्हें हिंदी टाइपिंग में भी दक्ष बनाए. ऐसा किए बगैर हिंदी पढ़ाने-लिखाने का मकसद अधूरा ही रहेगा.
8. केंद्र सरकार का मूल कामकाज हिंदी में होना भले संभव न हो, लेकिन यह तो हो ही सकता है कि सरकार अपने सभी दस्तावेजों और वेबसाइटों का सहज हिंदी में अनुवाद अनिवार्य रूप से कराए. इसके लिए संसाधनों की कमी का बहाना बनाते रहने से हमारी मातृभाषा लगातार पिछड़ती जाएगी और एक दिन हम अपने ही देश में अंग्रेजी के गुलाम बन जाएंगे. सरकार के इस फैसले से रोजगार के भी बड़े अवसर पैदा होंगे.
9. केंद्र सरकार अभी राजभाषा हिंदी सीखने के लिए अपने कर्मचारियों को आर्थिक प्रोत्साहन देती है. इसके तहत सेवा में रहते हुए हिंदी की परीक्षा पास करनी होती है. उसके बाद कर्मचारियों को एक निश्चित समय पर तय राशि दी जाती है. जानकारों के मुताबिक यहां तक तो ठीक है पर गड़बड़ी यह होती है कि हिंदी प्रोत्साहन के नाम पर पैसे पाने वाले ज्यादातर कर्मचारी कभी हिंदी में कामकाज नहीं करते. सरकार को इस बुरी प्रवृत्ति पर लगाम लगानी चाहिए.
10. देश में इंटरनेट पर करीब 20 प्रतिशत लोग हिंदी में सामग्री खोजते हैं. लेकिन इंटरनेट पर इस भाषा में अच्छी सामग्री का काफी अभाव है. इसलिए सरकार को चाहिए कि वह अपने संसाधनों और निजी प्रयासों से सभी विषयों की हिंदी में सामग्री तैयार करवाकर इंटरनेट पर डलवाए. यह काम धीरे-धीरे करने से बात नहीं बनेगी. सरकार को इसके लिए युद्ध स्तर पर प्रयास करना होगा. ऐसा करके ही हिंदी पर लगने वाले उन लांछनों को दूर किया जा सकेगा कि यह ज्ञान और विज्ञान की भाषा नहीं है.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

11. सरकार को शब्दों की वर्तनी से जुड़ी विसंगतियों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए. अंग्रेजी जैसी भाषाओं के विपरीत हिंदी में कई ऐसे शब्द हैं जिन्हें कई तरह से लिखा जाता है. इस समस्या के चलते कई लोगों को हिंदी लिखने ओर सीखने में दिक्कत होती है.
12. सरकार को सुप्रीम कोर्ट से परामर्श करके देश की अदालतों में हिंदी को जिरह करने और फैसला लिखने की भाषा बनाने का प्रयास करना चाहिए.
13. केंद्र सरकार का राजभाषा विभाग अभी गृह मंत्रालय के तहत काम करता है. इसका जिम्मा कई बार अहिंदी-भाषी मंत्री के जिम्मे होता है. ऐसे मंत्री हिंदी के विकास में रुचि नहीं लेते. इसलिए सरकार को तय करना चाहिए कि यह विभाग या तो प्रधानमंत्री कार्यालय के तहत काम करे या इसे वैसे किसी मंत्री को सौंपा जाए जो हिंदी की अहमियत समझता हो. इसके अलावा राजभाषा विभाग को इसके अलावा पर्याप्त अधिकार और बजट भी सौंपने की जरूरत है.

सरकार को इन उपायों के अलावा हिंदी के अनुकूल तकनीकी विकास में भी दिलचस्पी बढ़ानी चाहिए. उसे इस क्षेत्र में अनुसंधान तेज करने के लिए निजी क्षेत्र को भी प्रोत्साहित करना होगा. हालांकि बिना राजनीतिक इच्छाशक्ति, स्पष्ट कार्ययोजना, संवेदनशीलता और ईमानदारी के कोई भी प्रयास इस दिशा में महज रस्म अदायगी बनकर रह जाएगा. अब तक का अनुभव तो ऐसा ही रहा है.

वैचारिक जकड़न से आजाद होते उपन्यास

- हिंदी कथा परिदृश्य की अगर बात करें तो हम पाते हैं कि पिछले कुछ वर्षो में इसने अपने भूगोल का विस्तार किया है। वामपंथी विचार के प्रभाव में खास तरह की कहानियां या उपन्यास लिखे जा रहे थे। ये दौर बहुत लंबे समय तक चला और एक खास तरह की फॉमरूलाबद्ध कहानियां और उपन्यास लिखे जाते रहे। एक गरीब होगा, उसका संघर्ष होगा, समाज के प्रभावशाली व्यक्ति के गरीबों के शोषण का चित्र होगा, उसमें लंबे लंबे वैचारिक आख्यान होंगे और फिर कई बार सुखांत तो कई बार दुखांत होगा। ये कथा-प्रविधि चलती रही। कुछ लेखक इससे हटकर भी लिखते रहे, लेकिन जोर इसी तरह के लेखन का रहा। दुनिया को बदलने का स्वप्न देखनेवाले कथा लेखक अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता की वजह से अपनी कहानियों या उपन्यासों को भी दुनिया को बदलने का औजार बनाते चले गए। जब इस तरह के औजार का प्रयोग हुआ तो उसने हिंदी के पाठकों को चौंकाया। लेकिन जब यही प्रविधि ज्यादातर लेखक उपयोग करने लगे तो पाठकों के बीच ऊब सी पैदा हुई।
- विचारधारा की जकड़न वाले ऐसे कथा लेखक इस बात का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से उद्घोष भी करते रहे कि वो विचारधारा के पोषण के लिए और उसको मजबूत करने के लिए लिखते हैं। वो पाठकों की परवाह भी नहीं करते थे, बाजार की परवाह करना तो खैर उनके मातृ-विचार के खिलाफ था। इसका दुष्परिणाम हिंदी साहित्य को डोलना पड़ा। एक समय ऐसा भी आया जब हिंदी साहित्य जगत में पाठकों की कमी को लेकर विमर्श शुरू हो गया। बड़े बड़े संस्थानों से लेकर साहित्यिक पत्रिकाओं में हिंदी के पाठकों की कमी का रोना रोते हुए लेख छपने लगे। पाठकों की कमी की बात जब मुखर होने लगी तो उसी दौर में ये हिंदी के कहानी संग्रह और उपन्यासों का संस्करण तीन सौ प्रतियों का होने लगा। लेकिन कभी भी इस बात की पड़ताल करने की कोशिश नहीं की गई कि पाठक क्यों कथा साहित्य से दूर जाने लगे हैं। लेखकों ने पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा और कहते भी थे कि वो रुचि का ध्यान रखकर लेखन नहीं कर सकते हैं। अगर बाजार की भाषा में इसको समझने की कोशिश करें तो कह सकते हैं कि वामपंथी लेखकों ने उपभोक्ता यानी पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा। वो रवींद्रनाथ टैगोर का कहा भी भूल गए। टैगोर साहब ने 'साहित्य की सामग्री' नामक अपने लेख की शुरुआत में ही कहा था- 'केवल अपने लिए लिखने को साहित्य नहीं कहते हैं। जैसे पक्षी अपने आनंद के उल्लास में गाता है उसी प्रकार हम भी अपने आनंद में विभोर होकर केवल अपने लिए ही लिखते हैं, मानो श्रोता या पाठक का उससे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। यह बात बिल्कुल निर्विवाद रूप से नहीं कही जा सकती कि पक्षी जब गाता है तब पक्षी समाज जरा भी उसके ध्यान में नहीं होता। यदि नहीं होता तो न सही, इस बात पर तर्क करने से लाभ ही क्या है? परंतु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है।' लेकिन वामपंथी लेखकों ने पाठक समाज को ध्यान में नहीं रखा, उनका लक्ष्य तो कथा साहित्य से अपनी विचारधारा को पुष्ट करना था।
- जब वामपंथी विचारधारा का पराभव शुरू हुआ तो हिंदी साहित्य का कथा लेखन भी इस वैचारिक लेखन से मुक्त होने लगा। इसके बीच आर्थिक उदारीकरण के बाद के दौर में ही कथाभूमि में पड़ने शुरू हो गए थे। इक्कीसवीं सदी के आरंभ में बदलाव का ये पौधा उगना शुरू हो गया था और लोगों ने इससे अलग हटकर उपन्यास लिखना शुरू कर दिया था। इसी दौर में मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों ने अपनी नवीनता की वजह से हिंदी के पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'प्रेत' और मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' ने पाठकों को कथा के ऐसे प्रदेश से परिचय करवाया जिस ओर जाने से हिंदी के उपन्यास लेखक हिचकते थे। इन दोनों उपन्यासों में लेखकों ने जिन समुदायों को कथा के केंद्र में रखा है उसके जीवन को पाठकों के सामने पेश करने की कोशिश की, मोरवाल ने कुछ हिचक के साथ तो मैत्रेयी ने

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

बोल्ड होकर। हम इन दोनों उपन्यासों को विचारधारा से मुक्त होने का प्रस्थान बिंदु मान सकते हैं। हालांकि मोरवाल के उपन्यासों में उसके अवशेष दिख जाते हैं।

- इसके बाद के कथा लेखन खासकर उपन्यासों को देखें तो वहां वैचारिक प्रतिबद्धता को पाठकों की रुचि ने विस्थापित कर दिया। नए लेखकों ने विश्वविद्यालय कैंपस की जिंदगी को विषय बनाया और पाठकों ने उनको खूब पसंद किया। इनमें से कुछ लेखक अब कैंपस से बाहर निकल गए हैं और उन्होंने अपने दायरे का विस्तार कर लिया, जबकि कई लेखक अब भी कैंपस के ही चक्कर लगा रहे हैं। इनमें से जो लेखक कैंपस से बाहर निकल गए हैं उनकी व्याप्ति बढ़ी है और जो कैंपस में ही अटके हैं उनसे अपेक्षा की जा रही है कि वो अपनी कथाभूमि का विस्तार करें। पिछले दो-तीन वर्षो को देखें तो कथा भूमि का और विस्तार दिखाई देता है। अब उपन्यासों के विषयों में पहले की अपेक्षा अधिक विविधताएं दिखाई देने लगी हैं। हिंदी का लेखक समाज बहुत बड़ा है और उसी अनुपात में पुस्तकें भी प्रकाशित होती हैं। लेकिन जिन उपन्यासों ने अपनी विषयगत नवीनता की वजह से लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा उसमें पर्यावरण और समाज में व्याप्त कानूनी असमानता को लेकर लिखा गया उपन्यास है। पिछले वर्ष के अंतिम महीने में दो ऐसे उपन्यास आए जिसने अपनी विषयगत नवीनता से पाठकों को चौंकाया। रत्नेश्वर ने फिर से पर्यावरण को अपने उपन्यास का विषय बनाया। उनका उपन्यास 'एक लड़की पानी पानी' ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। इसमे रत्नेश्वर ने पानी की समस्या को बेहद रोचक तरीके से उठाया है। उपन्यास के केंद्र में पानी की समस्या है, उपन्यास के पात्रों के बीच पानी की कमी को लेकर चलनेवाला विमर्श है। इसी तरह से भगवानदास मोरवाल ने अपने नए उपन्यास 'वंचना' में महिलाओं और बच्चों के लिए बनाए गए कानून की खामियों को विषय बनाया है। इस उपन्यास में मोरवाल ने बेहद सधे हुए अंदाज में संवेदनशील तरीके से उन स्थितियों की चर्चा की है। इन दोनों उपन्यासों में लेखकों के सामने अपनी कृतियों को पठनीय बनाए रखने की चुनौती थी जिसका सामना दोनों ने बखूबी किया। इस तरह के विषय हिंदी उपन्यासों के लिए पहले बिल्कुल नहीं सोचे गए थे। अगर लिखे गए हों तो संभव है कि मेरी नजर में ना आए हों। मार्क्सवादी लेखकों ने तो पर्यावरण को इस वजह से अपने लेखन में तवज्जो नहीं दी, क्योंकि उनके आराध्य ने ही इस विषय पर कुछ नहीं देखा।
- ऐतिहासिक, पौराणिक और मिथकीय चरित्रों पर पहले भी लेखन होता था और अब उसमें काफी वृद्धि हुई है। राष्ट्रवाद के दौर में पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ढेर सारे लेखकों ने महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर उपन्यास लिखे। पहले नरेंद्र कोहली ने अकेले इन विषयों पर विपुल लेखन किया जिसे बाद में अमीश समेत अन्य लेखकों ने बढ़ाया। लेकिन पिछले ही साल नरेंद्र कोहली का एक उपन्यास 'सागर मंथन' प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने कथा के एक नए क्षेत्र में प्रवेश किया जिसमें पौराणिकता के साथ विज्ञान भी है। कह सकते हैं कि हिंदी में कथा साहित्य के दौर को विचारधारा की गुलामी से मुक्त होने का दौर कह सकते हैं। उसको वर्तमान और भविष्य की चिंताओं को अपने अपने उपन्यासों का विषय बनाकर पाठकों के समक्ष ले जाने का जोखिम उठाने का दौर है।
- इस दौर को पाठकों या व्यापक हिंदी समाज की रुचि की पूर्ति का दौर भी कहा जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि अब प्रकाशक लगातार सार्वजनिक तौर पर अपनी पुस्तकों के नए संस्करणों की बात करने लगे हैं। वो खुलकर ये बताने लगे हैं कि अमुक उपन्यास या अमुक पुस्तक की इतनी प्रतियां बिकीं। इस बदलाव को एक सुखद बदलाव के तौर पर भी देखा और रेखांकित किया जाना चाहिए। ये दौर उन आलोचकों के लिए भी चुनौती का दौर है जो सिर्फ उन्हीं पुस्तकों पर विचार करते रहे हैं जो उनकी विचारधारा के करीब रही हैं.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

मध्य वर्ग अगर सच को सच कहने का साहस दिखाए तो समाज और राजनीति में हो रहा पतन रोका जा सकता है'

- आज सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में पतन और राजनीति में अवसरवादिता ने अपना स्थान बना लिया है. पहले भ्रष्टाचार को एक असाधारण दोष माना जाता था. बाद में माना जाने लगा कि लोकतंत्र में भ्रष्टाचार तो होता ही है. यदि हम लोकतंत्र कि मर्यादाएं भंग करने वाली चीजों को लोकतंत्र का अंश मानने लगें तो यह हमारे समाज और व्यक्तित्व में आए पतन को ही दर्शानेवाली बात होगी.
- मैं मानता हूं कि इस जड़ स्थिति से हमें मध्यवर्ग ही उबार सकता है. स्वतंत्र भारत में यदि हम किसी वर्ग के प्रति आस्था रखते हैं तो वह मध्यवर्ग ही है. यदि यह वर्ग साहस करके सच को सच कह सके तो हमारे सार्वजनिक जीवन के पतन और राजनीतिक जीवन में आई अवसरवादिता से हमें छुटकारा मिल सकता है.

ऐसा क्यों है कि यह समाज बदहाल स्थिति में जी रहा है? कहीं कोई सुगबुगाहट नहीं दिखती जैसे कि लोग चुक गए हों?

- इसका एक बहुत बड़ा कारण है हमारे भीतर यथास्थिति को स्वीकार करने कि प्रवृति का आना. यह परिवर्तन बहुत मायने रखता है. इसी कारण विरोध या संघर्ष आज चेतना के स्तर पर न होकर पावर के स्तर पर होने लगा है. परिवर्तन की आकांक्षा अगर 'सत्ता' के लिए हो, 'पावर' के लिए हो तो जिस तरह का नैतिक आंदोलन जयप्रकाश जी या गांधी जी ने किया था, नामुमकिन हो जाता है. यहां तो स्थिति आज यह है कि जिस चीज या कि मुद्दे को उठाओ उसे अपने सत्ता में आने कि प्रक्रिया को तेज करने का साधन भर समझ लो. जनता के हित की बात यहां नहीं होती. हर कमी, हर न्यूनता को यहां वैयक्तिक और निजी स्वार्थ के हित में कैश करवाया जाता है.

हम-आप सभी जब निज पर केन्द्रित हो चलेंगे तो कहां की और कैसी सुगबुगाहट? ऐसे समय में साहित्य से कोई आशा? क्या यह सामूहिक लक्ष्यों के प्रति हमारी चेतना को संगठित कर सकता है?

- साहित्य चेतना को संगठित नहीं करता. साहित्य केवल उन मूल्यों के प्रति सचेत करता है, जिन मूल्यों ने साहित्य और सत्ता के ढांचे के बीच में एक संतुलन बनाए रक्खा है. उदहारण के तौर पर अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता एक मूल्य है. हमारे संविधान में इसे स्वीकार किया गया है. साहित्य में इसकी स्वतंत्रता को महत्व दिया गया है; किन्तु कौन-सा शब्द हमारे जीवन कि सच्चाई को प्रतिध्वनित करता है या उसका प्रतिनिधित्व करता है, उस शब्द को बोलने का विवेक अगर न हो तो यह स्वतन्त्रता भी कोई मायने नहीं रखती... इस दृष्टि से देखें तो एक साहित्यकार उस अन्तराल या स्पेस की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जो मौखिक और औपचारिक रूप से उपलब्ध है, लेकिन जो हमारे जीवन में, यथार्थ में कार्यान्वित नहीं होता. मेरे खयाल में एक लेखक का कर्तव्य यह होता है कि वह लोगों को बराबर उस खाई के प्रति सचेत करे जो उसकी चेतना में खुदती जाती है; बड़ी होती चलती है.

THE CORE IAS (A dream of your dream)

आप कहते हैं कि इन समस्याओं का समाधान हमारे मध्यवर्ग के पास है, लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है क्योंकि यह वर्ग तो अपने 'सर्वाइवल' के लिए दिन–रात लगा रहता है. ऐसे में वह इन समस्याओं का समाधान कैसे बन सकता है?

- मध्यवर्ग कि उत्पत्ति 'मध्य' शब्द से हुई है. वह वर्ग जो दोनों 'एक्सट्रीम' के बीच का वर्ग है. मोटे तौर पर यह हमारे देश का वह हिस्सा है, जो पढ़ा-लिखा है, प्रोफेशनल वर्ग से है. हमारे देश में मध्यवर्ग की भूमिका एक सजग और जागरूक वर्ग की रही है. राष्ट्रीय आन्दोलन के समय इस वर्ग के माध्यम से ही चेतना का प्रसार हुआ. अगर हम आज की राजनीतिक पार्टियों को देखें तो सक्रिय रूप से काम करनेवाले राजनीतिकों में अधिकतर लोग मध्यवर्ग से रहे हैं. हमारे बुद्धिजीवी - जैसे डॉक्टर, पत्रकार, लेखक, शिक्षक, इंजीनियर जैसे सारे लोग जिन्हें हम 'इन्टेलेजेंसिया' कहते हैं, इसी वर्ग से उभरे हैं.
- इसी वर्ग के माध्यम से बहुत हद तक हमारी जनता अपनी जरूरतों, पीड़ाओं और सीमाओं को अभिव्यक्त करती है. पत्रकार और मीडिया के लोग आम लोगों की जुबान का काम करते हैं. अभिव्यक्त करने की क्षमता एक बहुत बड़ी क्षमता है.
- जब तक हम अपनी बात किसी तक पहुचाएंगे नहीं, कोई हमारी तकलीफ कैसे जान सकेगा? और ये लोग ही हमें इस तरह कि समस्याओं से प्रत्यक्ष कराते हैं. आमतौर पर सेठ, राजनीतिक और उद्योगपति इन्हें अपनी सुविधाओं को सुरक्षित करने के लिए खरीदना चाहते हैं. इस लिहाज से आज मध्यवर्ग के सामने बहुत बड़ी चुनौती है? हां मध्यमवर्ग के सामने आज सबसे

बड़ी चुनौती है अपने नैतिक दायित्व को समझने की, प्रलोभनों में नहीं आने की. अपनी स्थिति के कारण यह वर्ग ऐसा कर सकता है. यदि वह इस मोह से खुद को उबार लेगा तो निश्चित ही वह इस डूबते हुए समाज को बचा लेनेवाला 'तिनका' साबित होगा.

लेकिन क्या इस चुनौती के बीच मध्यवर्ग पारंपरिक बुनावट उच्च-मध्यवर्ग से प्रभावित हो रही है?

- भारत में हाल के वर्षों में एक वर्ग तेजी से फैला है, वो है 'उच्च मध्यवर्ग.' इसकी जड़ें हालांकि मध्यवर्ग से ही निकली हैं पर इसकी आगामी टहनियां उच्च या अभिजात्य वर्ग के संस्कारों को ही अपना रही हैं, पोषित कर रही हैं. यहां वो सारे सुख, वो सारी सुविधाएं सुलभ हैं जो उच्च-वर्ग या पश्चिमी - मध्यवर्ग कि मूलभूत आवश्यकताएं हैं, पर यह वर्ग जितनी तेजी से उनकी सुविधाओं को आत्मसात कर रहा है, उससे भी ज्यादा तेजी से उनके दुर्गुणों जैसे व्यक्तिनिष्ठ होना, अवसरवादी होना, लाभार्थ समझौते करना, को अपना रहा है.
- उच्च-मध्यवर्ग के यही गुण, यही तेवर आज संक्रामक रूप से मध्यवर्गीय समाज में भी आ रहे हैं. इस कारण वह उच्च-मध्यवर्ग में शामिल होने की होड़ में समझौते करता है, प्रलोभनों में बंधकर आम मनुष्यों से अपने को काट रहा है जो कि उचित नहीं है. हमारे यहां सामूहिकता को प्रश्रय दिया जाता है, कुटुम्ब और परिवार में रहने की परंपरा है, हम लोग व्यक्तिवादी नहीं हैं, परन्तु उच्च मध्यमवर्ग के प्रभाव में हमारे ये संस्कार धूमिल हो रहे हैं.

अंग्रेजी बोलना बौद्धिकता और हिंदी बोलना हीनता का प्रतीक क्यों बन गया है?

- कुछ समय पहले एक वीडियो वायरल हुआ था. इसमें दिल्ली के शॉपिंग सेंटर में कुछ लड़कियां एक महिला को माफ़ी मांगने को कह रही हैं. लड़कियों के मुताबिक उस महिला ने उनमें से एक लड़की के छोटे कपड़ों की वजह से आस-पास के लड़कों को उसका रेप करने के लिए कहा था. वीडियो ने एक बार फिर उस सोच को सामने रखा जहां लड़की के कपड़ों को उसके चरित्र और उसके खिलाफ होने वाले अपराधों से जोड़ दिया जाता है.
- इस वीडियो पर आए कमेंट्स के ज़रिए और फिर अख़बारों में भी इस मसले पर काफी बहस हुई. पर इसमें कुछ और भी था जो हमारा ध्यान अपनी ओर खींच सकता था. वह था इस वीडियो की भाषा. इस पूरे वीडियो में ज़्यादातर महिलाएं, ज़्यादातर वक्त सिर्फ अंग्रेज़ी में ही बात कर रही हैं, इस बात की परवाह किये बिना कि उनकी भाषा सही है या नहीं और वे उसमें बात करते हुए सहज हैं या नहीं.
- अगर ध्यान दिया जाए तो यह स्थिति सिर्फ इन महिलाओं की नहीं, बड़े शहरों में रहने वाले ज्यादातर हिंदुस्तानियों की है. भारतीयों की इस प्रवृत्ति पर नॉएडा की एक एमएनसी में काम करने वाली कानपुर की रेणु मित्तल अपना एक अनुभव सुनाती हैं. 'कल मैं दफ़्तर के पास ही एक कैफ़े में गई तो वहां मेरा अभिवादन अंग्रेज़ी में किया गया. पानी और मेन्यू देते हुए मेज़बान महिला ने दोस्ताना अंदाज़ में मुझसे कहा कि लगता है मैं धूप में चल कर आ रही हूं. लहज़े और बातचीत से साफ दिख रहा था कि वह अंग्रेज़ी में उतनी सहज नहीं है और मजबूरी में ही इस भाषा में बात कर रही थी. मैं सोचती रही कि अगर ये मुझसे हिंदी में यही बात कहती तो मुझे ज्यादा अच्छा लगता.'
- रेणु आगे कहती हैं, 'कुछ देर में इससे बिलकुल उल्टी एक और घटना हुई. कैफ़े में जिनसे मुझे मिलना था, उन्होंने आते ही कहा, 'नमस्ते'. उत्तर प्रदेश के छोटे शहरों और क़स्बों में यह सबसे आम संबोधन है. लेकिन फिर भी मुझे ऐसा सुनना बड़ा अजीब सा लगा.' रेणु के ऐसा सोचने में कुछ भी अजीब इसलिए नहीं है क्योंकि नोएडा-दिल्ली जैसे शहरों में संबोधन और संपर्क की भाषा काफी हद तक अंग्रेजी मानी जाने लगी है. ऐसे में सवाल यह है कि क्या इन शहरों में रहने वाले लोग इतने अलग-अलग परिवेशों से हैं कि वे सिर्फ अंग्रेज़ी में ही एक-दूसरे के साथ संवाद कर सकते हैं? जवाब है नहीं. तो फिर कैसी भी अंग्रेज़ी में बोलने का फ़ितूर क्यों?

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- क्या ऐसा इसीलिए है कि अंग्रेज़ी में बात करके हम सामने वाले को यह संदेश देते हैं कि हम उच्च शिक्षित, कुलीन वर्ग से आते हैं? क्या दूसरों से बेहतर या उनके बराबर दिखने की चाह जिन्हें हम अपने से बेहतर मानते हैं, हमारी वर्ण व्यवस्था का ही एक विकृत स्वरूप नहीं है? लेकिन यह भी सच है कि इस चाह के होने की पूरी ज़िम्मेदारी सिर्फ उन लोगों के कंधे पर नहीं डाली जा सकती, जो ऐसा चाहते हैं. इसके पीछे एक पूरा तंत्र, एक व्यवस्था और पूरा समाज काम कर रहा है. फ़र्ज़ कीजिए, आप एक पांच सितारा होटल के रिसेप्शन या किसी बड़े निजी अस्पताल में खड़े हैं. वहां अगर आप अंग्रेजी में अपना परिचय देते हैं तो बहुत मुमकिन है कि रिसेप्शनिस्ट का व्यवहार आपके प्रति अलग होगा. ऐसे में अगर आप ग़लत ही सही, लेकिन अंग्रेज़ी बोल सकते हैं तो शायद वही बोलेंगे.
- लेकिन अंग्रेज़ी बोलने वालों को अधिक बौद्धिक या कुलीन समझे जाने की जड़ें इससे कहीं आगे जाती हैं. इंडियन काउंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स में रिसर्च फैलो दीपिका सारस्वत इसके लिए अंग्रेज़ी के रास्ते भारत में आई आधुनिकता को ज़िम्मेदार ठहराती हैं. 'अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले हम एक परंपरागत समाज थे. हमारे यहां आधुनिक विज्ञान, तकनीक और लोकतंत्र जैसी सामाजिक व्यवस्था और विचार सबसे पहले अंग्रेज़ी में ही आए. पश्चिम का पुनर्जागरण उनकी भाषा में हुआ, जबकि हमारा पुनर्जागरण (जिसे सही मायनों में पुनर्जागरण नहीं कहा जा सकता) एक विदेशी भाषा में हुआ. यहां भारत के परंपरागत ज्ञान और आधुनिक ज्ञान के बीच ऐसी कोई स्थानीय कड़ी नहीं थी, जैसी ब्रिटेन या फ़्रांस में थी. अपनी भाषाओं से आगे बढ़कर अंग्रेज़ी पढ़ने-समझने वालों को ही पहली बार आधुनिक समाज की विशेषताओं और अच्छाइयों का पता चला.' ऐसे में परंपरागत भारतीय समाज की बुराइयों के साथ-साथ - जिनमें सामंतशाही, छुआछूत या महिलाओं को दोयम दर्ज़े पर रखा जाना शामिल है - उसकी संस्कृति और भाषा को भी नीची नज़र से देखा जाना शुरू हो गया.
- इसके बाद अंग्रेजी हमारे यहां आधुनिक और प्रगतिशील दिखने का एक शॉर्टकट भी बन गई. हमने आधुनिकता और प्रगतिशीलता का कोई अपना रास्ता निकालने के बजाय एक आसान तरीक़ा चुना और एक विदेशी भाषा के ज़रिए वहां पहुंचने की कोशिशों में लग गये. बेशक इसके पीछे दुनिया में भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति की भी भूमिका रही. और दुनिया के सामने हिंदुस्तान को असभ्य, आदिम और अंधविश्वासी समाज के तौर पर पेश किया जाना भी. लेकिन अब स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि भारत में ही हिंदी या अन्य स्थानीय भाषाओं में बात करने वालों को उतना बौद्धिक या महत्वपूर्ण नहीं माना जाता.
- भाषा सिर्फ संप्रेषण का माध्यम ही नहीं, बल्कि इससे आगे जाकर संस्कृति और विचार की वाहक भी होती है. मिसाल के लिए हिंदी का साहित्य हिंदी बोलने वाले समाज की परंपराओं, जीवनशैली, समस्याओं और संघर्षों के बारे में ही ज्यादा होगा. यही बात बोलचाल में भी देखी जा सकती है. हिंदी में आप, तुम और तू जैसे शब्दों का होना दिखाता है कि सामने वाले व्यक्ति के साथ आपके संबंध को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है. लेकिन अंग्रेज़ी में संबोधन के लिए सिर्फ एक शब्द 'यू' होता है जो बताता है कि यहां इस तरह के बंटवारे की संभावना कम है. यानी जब हम भाषा बदल रहे होते हैं, तो अनजाने में अपने विचार, संस्कृति और फिर समाज को भी बदल रहे होते हैं.
- इस मामले में बंगाल को कुछ हद तक अपवाद कहा जा सकता है. हालांकि वहां भी अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम बहुत हद तक अंग्रेज़ी और उपनिवेशवाद की वजह से है. हम जानते हैं कि कलकत्ता भारत में अंग्रेज़ी सम्राज्य की पहली राजधानी था. अंग्रेज़ी के ज्ञान, पुनर्जागरण और पश्चिमी साहित्य के ज़रिए आधुनिकता सबसे पहले बंगाल में ही आई. लेखक और राजनीतिक विचारक मानश भट्टाचार्जी इसे इस तरह समझाते हैं, 'बंगालियों में अपनी भाषा को लेकर हीन भावना इसलिए भी नहीं आई क्योंकि इसी समय रवींद्रनाथ ठाकुर और सत्यजीत रे जैसे नामों ने बांग्ला साहित्य और सिनेमा को दुनिया की नज़र में लाकर बंगालियों को अपनी भाषा पर गर्व करने का मौक़ा दे दिया.'

THE CORE IAS
(A unit of Just Unlearn)
www.thecoreias.com

- इसके अलावा प्रिंटिंग प्रेस भी सबसे पहले बंगाल में आई जिससे बांग्ला भाषा और साहित्य को बड़ा फ़ायदा हुआ. बांग्ला से अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी से बांग्ला में होने वाले अनुवादों से भी इस भाषा के विचारों को स्थानीय से वैश्विक होने में मदद मिली. हालांकि मानश कहते हैं कि अब बंगाली भद्रलोक भी अपनी भाषा के प्रति यह सम्मान खोता जा रहा है.
- स्थानीय भाषाओं और ख़ासकर हिंदी के खोते सम्मान पर दुखी होने वाले उसे राष्ट्रीय गौरव से जोड़कर आसमान की ऊंचाई पर तो रखते हैं लेकिन वे न तो इसके सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों की तरफ जाते हैं और न ही आर्थिक कारणों की तरफ. वे भारतेंदु को उद्धृत करते हुए अक्सर कहते हैं, 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल'. पर वे भूल जाते हैं कि इसी कविता में उन्होंने यह भी कहा था कि 'निज भाषा में कीजिए, जो विद्या की बात'. हिंदी या अन्य स्थानीय भाषाओं में विज्ञान, शोध और परिष्कृत विचार की बेहतर व्यवस्था के बिना उन्हें अंग्रेज़ी या अन्य वैश्विक भाषाओं के बराबर रखना संभव नहीं है. लेकिन न तो हम अपनी भाषाओं में वैज्ञानिक शोध ही कर रहे हैं और न ही बड़ी मात्रा में अच्छी गुणवत्ता का अनुवाद.
- पिछली जनगणना कहती है कि भारत में कुल 19569 भाषाएं और बोलियां मातृभाषा के तौर पर बोली जाती हैं. संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को जगह दी गई है. लेकिन आईआईटी, एम्स और जेएनयू जैसे बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों में पढ़ाई सिर्फ अंग्रेज़ी में होती है. ऐसे में ज़ाहिर सी बात है कि एक आम भारतीय के लिए अंग्रेज़ी का महत्व किसी अन्य भारतीय भाषा के मुक़ाबले ज़्यादा होगा ही होगा.

हिंदी बहुलता और समावेश की भाषा है, इसमें इनके विरुद्ध साहित्य रचा ही नहीं जा सकता

- किसी ने मुझसे पूछा कि क्या हिंदी में इस समय कोई ऐसे लेखक हैं जो हिंदुत्व का सर्जनात्मक या बौद्धिक समर्थन करते हों? मुझे तुरंत कोई नाम नहीं सूझा और अब जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं, तब भी मुझे ऐसा कोई नाम नहीं सूझ रहा है. मेरे ज्ञान की सीमा है और हो सकता है कि ऐसे लेखक हों जिसके बारे में मुझे पता नहीं. ऐसे लेखक तो हैं, जो नरेंद्र मोदी और भारतीय जनता पार्टी के समर्थक हैं और जिनको पांच साल और सत्तारूढ़ करने के लिए उन्होंने चुनाव के दौरान अपील जारी की है. उनमें से कुछ को मैं जानता हूं और सर्जनात्मक या बौद्धिक लेखन में हिंदुत्व के समर्थन का संदेह मुझे नहीं होता है. मैं यह मानता हूं कि शायद उनमें से अधिकांश का लेखन मैंने इस दृष्टि से ध्यान से नहीं पढ़ा है. पर मेरे ऊपर कुल मिलाकर यह प्रभाव पड़ा है कि जो बहुत थोड़े लेखक नमो भाजपा के ज़ाहिरा तौर पर समर्थक हैं, अपने लेखन में उनके द्वारा प्रचारित संकीर्णता, भेदभाव, दूसरों के साथ अन्याय आदि का समर्थन नहीं करते हैं.
- इसके कम से कम दो आशय निकलते हैं. एक कि जिस राजनीति का मुखर समर्थन ये लेखक धड़ल्ले से कर रहे हैं उसकी कोई प्रासंगिकता उनके लेखन के लिए नहीं है याने यह एक तरह का दुचित्तापन है, नैतिक अन्तर्विरोध है. दूसरा कि इस राजनैतिक दृष्टि की साहित्य में सर्जनात्मक संभावनाएं न के बराबर हैं- वह एक अनुर्वर राजनीति है. एक तीसरा आशय भी निकाला जा सकता है कि हिंदी में साहित्यसृजन के स्तर पर हिंदुत्व का सहारा या समर्थन नहीं लिया या किया जा सकता.
- इस अन्तर्विरोध या दुचित्तेपन का हिंदी में कुछ इतिहास भी है. विद्यानिवास मिश्र भाजपा सरकार द्वारा ही राज्यसभा में नामज़द किये गये थे. उन्होंने बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर लगभग प्रसन्नता ज़ाहिर की थी, अपने द्वारा संपादित अख़बार में. पर उनकी दृष्टि साहित्य में सकलतामूलक थी और उन्होंने कालिदास, जयदेव, महाभारत और रामायण पर जो विस्तार से लिखा है उसमें, अन्य चीज़ों के अलावा, जिस भारतीय दृष्टि पर बल दिया है उसमें न तो हिंदू दृष्टि को भारतीय दृष्टि का केन्द्रीय तत्व मानने का कोई दुराग्रह है, न ही हिंदुत्व की जग ज़ाहिर संकीर्णता, भेदभाव, घृणा आदि का कोई दबा-छुपा सही समर्थन ही. निर्मल वर्मा अपने जीवन और लेखन के अन्तिम दशक में भाजपा के प्रति आकर्षित हुए थे लेकिन उनके लेखक और विचार में किसी तरह की संकीर्णता नहीं आयी थी. वे भारतीय मनीषा में आयी फांक का ज़िक्र करते थे, आत्मबोध के अभाव का भी. पर किसी हिंसक-आक्रामक या घृणापरक संकीर्ण राजनीति का समर्थन कहीं नहीं मिलता.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- इस विश्लेषण से एक उत्साहवर्द्धक नतीजा निकालने के लोभ से मैं नहीं बच पा रहा हूं. वह यह है कि चूंकि साहित्य सत्य की रंगभूमि है और भारतीय दृष्टि अनेक बहुलताओं से गढ़ी गयी है, उसमें किसी संकीर्ण दृष्टि की जगह हो ही नहीं सकती. साहित्य-व्यवहार और समाज-व्यवहार में फांक हो सकती है पर भरोसा तो हम साहित्य पर ही कर सकते हैं. समाज में झूठ का व्यापार और उसका समर्थन चल सकता है पर साहित्य में प्रथमतः और अन्ततः सत्य की ही जगह है.
- न जाने क्यों मुझे याद आया कि जब अमरीकी उपनिवेशों को स्वतंत्रता देने पर लंदन में हाउस ऑफ कॉमन्स में बहस चल रही थी तो एडमण्ड बर्क ने अपने एक प्रसिद्ध भाषण में कहा था (वह अंग्रेज़ी गद्य का अद्भुत नमूना माना जाता है) कि अंग्रेज़ी स्वतंत्रता की भाषा है और उसमें स्वतंत्रता के विरुद्ध तर्क किया ही नहीं जा सकता. मैं कहना चाह रहा हूं कि शायद हिंदी बहुलता और समावेश की भाषा है जिसमें बहुलता और समावेशिता के विरुद्ध साहित्य रचा ही नहीं जा सकता. बर्क ने अंग्रेज़ी में एक सुलेमानी अभिमान से दावा किया था. क्या मैं हिंदी में अपनी लोकतांत्रिक कलावादी आस्था से ऐसा दावा कर सकता हूं? जबकि उसी हिंदी अंचल में संकीर्णता, धर्मान्धता, परस्पर दुर्भाव, जातिवाद, स्त्रियों-दलितों-मुसलमानों-आदिवासियों की ग़ैर-बराबरी और उनके साथ अन्याय का ऐसा बोलबाला है. कई बार यह कह चुका हूं कि कम से कम आज हिंदी साहित्य हिन्दी समाज का असली और लगभग स्थायी प्रतिपक्ष है.

एक रोमिला शाम

- हाल में एक शाम पहली बार मूर्धन्य वयोवृद्ध इतिहासकार रोमिला थापर के घर गुज़री. वे अकेले जिस घर में दशकों से रहती आयी हैं एक बड़ा किताबघर है. बड़े घर में हर कमरे में किताबों की करीने से लगी कतारें हैं. मेरा छोटा सा फ्लैट भी ऐसा ही, आकार में छोटा, पर आकांक्षा में बड़ा किताबघर है. जैसे मैं चिंतित हूं कि मेरे बाद इन हज़ारों किताबों का क्या होगा वैसे रोमिला जी भी चिंतित हैं. यह एक स्थायी विडंबना है कि किताब लिखनेवालों को लगातार यह चिन्ता सताती है कि किताबों का क्या होगा, आगे जाकर.
- रोमिला जी इस समय देश में जो हो रहा है उससे भी बहुत चिंतित हैं. उन्हें लगता है कि जैसे चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर परम्परा, इतिहास, स्मृति, ज्ञान,सृजन का बहुत कुछ नष्ट कर दिया गया था और उस क्षति की पूर्ति दशकों बाद भी चीन नहीं कर पाया है वैसी ही स्थिति भारत में हिन्दुत्व, धर्मान्धता, संकीर्णता, हिंसा,हत्यारी और ज्ञान तथा परंपरा विरोधी मानसिकता पैदा कर रही है. ज्ञान, बुद्धि, इतिहास और स्मृति की ऐसी अवमानना पहले कभी नहीं हुई है. उनको लगता है कि भारतीय धार्मिक परम्परा में प्रायः हर धर्म में रूढ़िवादिता और उसका विरोध लगातार रहे हैं. इधर लग रहा है कि रूढ़िवादिता ने सभी धर्मों को प्रायः इकहरा बना दिया है और उनमें कोई आन्तरिक विरोध बाक़ी नहीं रहा.
- हम देर तक सार्वजनिक संवाद में आयी अभद्रता, असहिष्णुता, तर्कतथ्यहीनता, गाली-गलौज पर बात करते हैं. रोमिला जी के इतिहासलेखन से असहमत हुआ जा सकता है पर उनकी भद्रता और प्रखरता को नज़रंदाज नहीं किया जा सकता. उनका स्पष्ट मत है कि अगर वर्तमान सत्तारूढ़ शक्तियां फिर सत्ता में आ गयीं तो भारत में बौद्धिक और सर्जनात्मक जीवन और संस्थाएं गहरे अत्यन्त क्षतिकारी संकट में फंस जायेंगी. जो भी हो, बुद्धिजीवी, लेखक और कलाकार, पाठक और दर्शक-श्रोता प्रतिरोधात्मक भूमिका में रहे आये यह ज़रूरी है. मैंने कहा हमें अड़ंगे बने रहना होगा.

पुरस्कार-वापसी, तपस्या और फ़कीरी

- 2015 में जब कुछ लेखकों और कुछ अल्पसंख्यकों की हत्याओं ने यह प्रभाव पैदा किया था कि देश में असहिष्णुता बढ़ रही है और सत्ता उसे चुपचाप देख रही है, स्वतःस्फूर्त ढंग से कई भाषाओं के लेखकों ने अपने पुरस्कार वापस कर इसका मुखर और ध्यानाकर्षक विरोध किया था. तब उस पर प्रधानमंत्री ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी. अब लगभग 4 वर्ष बाद, चुनाव के

दौरान, उन्हें कम से कम दो बार अपने प्रहारों के लिए इस वापसी की याद आयी है. लेखकों के उस असंगठित समूह को गैंग कहकर, मानो कि वे अपराधी हों. उन्हें विदेशी धन द्वारा पोषित बताया गया और जो राजस्थान में एक दलित की हत्या पर चुप्पी साधकर सो गया.

- जिन लेखकों ने पुरस्कार वापस किये थे वे अपने क्षेत्र में अलग-अलग ऐसी घटनाओं पर तीव्र प्रतिक्रिया करते रहे हैं. मैं ही अपने इस स्तम्भ और अनेक वक्तव्यों में दलितों-अल्पसंख्यकों-स्त्रियों आदि पर बढ़ रहे अत्याचारों और उससे प्रगट हिंसक-हत्यारी राजनीति के विरुद्ध लगातार लिखता रहा हूं. प्रधानमंत्री के पास अपार शक्ति, साधन और खुफ़िया एजेंसियां हैं और उन्होंने आज तक एक भी लेखक के बारे में यह पता लगाया कि उसे पुरस्कार वापसी के लिए कहीं से धन मिला. लेखक पुरस्कार वापस कर चुके. अब अगर ऐसी घटनाएं हों तो वे और क्या कर सकते हैं, सिवाय लिखकर विरोध करने के अलावा? यह विरोध अगर सत्ता के ध्यान में नहीं आता तो यह उसकी अक्षमता है, लेखकों की ज़िम्मेदारी नहीं. सत्ता यह भी भूल जाती है, जैसे कि मीडिया भी, कि लेखकों की पहल का लगभग पांच सौ वैज्ञानिकों ने भी मुखर और तर्कसंगत समर्थन किया था चार सौ कलाकारों-कलाविदों के साथ-साथ.
- हमारे यहां तपस्या मुक्ति के लिए किये जाने की परम्परा है, सत्ता के लिए नहीं. प्रधानमंत्री भूल जाते हैं कि उनकी लंबी तपस्या के अलावा कई लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी आदि भी इतने ही लम्बे समय से बुद्धि, सृजन, ज्ञान के लिए तपस्या करते रहे हैं और अगर उन्हें भारतीय समाज में आदर-सम्मान मिला है तो इसी कारण. कृष्णा सोबती, नयनतारा सहगल, गणेश देवी, पुष्प भार्गव आदि हमारे समय में सर्जनात्मक और वैज्ञानिक तपस्या की ही शबीहें हैं. उनमें से किसी ने ऐसे तपस्वी होने का स्वयं कोई बड़बोला दावा नहीं किया है.
- इन दिनों अतर्किक उत्साह में जो सबसे सुवेशित है वही फ़कीरी का दावा कर रहा है. 'मन लागा मेरा यार फ़कीरी में' कविता एक कवि की है, किसी सत्ताधारी की नहीं. इस देश में फ़कीरी के कई प्रकार रहे हैं. आम तौर पर लेखक और कलाकार, साधनों और अवसर के अभाव में, कठिन साधना कर अपना जीवन किसी न किसी तरह की फ़कीरी में ही बिताते हैं. भीष्म पितामह ने, एक बार फिर दुहराना ज़रूरी है, कहा था कि राजा का धर्म है कि वह अपने राज्य में रहनेवाले बुद्धिमान व्यक्तियों का आदर करे. तुलसीदास के राम ने कहा था अयोध्यावासियों से, अगर उन्हें लगे कि वह कोई अनीति कर रहे हैं तो वे उन्हें बिना भय के टोकें. हमने टोकने का यही नागरिक धर्म निभाया जो लोकतंत्र और भारतीय परम्परा दोनों का उजला उत्तराधिकार है और उसे लांछनों द्वारा दबाया या मैला या ख़ारिज नहीं किया जा सकता.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

हिंदी अंचल की राजनीति से अलग, उसका साहित्य संकीर्णता का विरोध कर जनतांत्रिक धर्म निभा सकता है

- प्रेम भारद्वाज द्वारा संपादित एक नयी पत्रिका 'भवन्ति' के प्रवेशांक के अवसर पर 'साहित्य में जनतंत्र' विषय पर एक परिचर्चा हुई. हम यह अक्सर भूल जाते हैं कि पिछले लगभग सात दशकों में जो साहित्य लिखा-पढ़ा गया है, वह जनतंत्र के अंतर्गत लिखा-पढ़ा गया है और ऐसा हमारे और साहित्य के इतिहास में पहली बार हुआ है. जनतंत्र के पांच तत्व विशेष हैं- चुनने की स्वतंत्रता, दृष्टियों की बहुलता, प्रश्नवाचकता, संवाद और असहमति की जगह और हर तरह की अल्पसंख्यकता का समावेश. हमें यह भी याद करना चाहिये कि संवैधानिक जनतंत्र लागू होने के सदियों पहले से साहित्य में जनतंत्र रहा है. भक्ति काव्य में तो कविता और अध्यात्म को एक साथ प्रश्नवाची, जनसुलभ और जनतांत्रिक बना दिया गया था. कबीर और तुलसी दोनों ही प्रश्नवाची हैं. एक हर धार्मिक सत्ता को चुनौती देता है तो दूसरा दी गयी सत्ता का रामराज्य के रूप में विकल्प सुझाता है जिसमें हर नागरिक को राजा द्वारा अनीति करने पर टोकने का अधिकार और अवसर हो.

- राजनैतिक स्वतंत्रता हमें जब मिली उससे बहुत पहले से साहित्य में स्वतंत्रता थी. छायावाद, राष्ट्रीयतावादी काव्य, गद्य आदि सभी औपनिवेशिक सत्ता के प्रतिरोध में थे और मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, अज्ञेय आदि सभी स्वतंत्रतापूर्व के लेखक सत्ता-विरोधी थे. स्वतंत्रता मिलने और संविधान के अंतर्गत जनतंत्र स्थापित होने के थोड़े ही दिनों बाद मोहभंग हुआ और लोकतांत्रिक सत्ता के बारे में साहित्य में प्रश्न उठे. यह आकस्मिक नहीं है कि पिछले 70 के हिंदी साहित्य का मुख्य स्वर व्यवस्था-विरोध का रहा है. उसमें प्रश्नवाचकता, धर्मनिरपेक्षता, संवाद, असहमति, वाद-विवाद-संवाद आदि की जनतांत्रिक जगह और संभावना रही है. इधर हिंदी प्रदेश में जो व्यापक राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं. उनकी एक विडंबना यह है कि उसने लोकतांत्रिक प्रक्रिया से ऐसी शक्तियों को अपना समर्थन फिर दिया है जो अब लोकतांत्रिक कटौती के लिए अधिकृत महसूस करेंगी.
- इसकी फिर पुष्टि हुई है कि आज हिंदी साहित्य हिंदी समाज का असली और टिकाऊ प्रतिपक्ष है. हिंदी लेखक को यह स्वीकार करना चाहिये कि साहित्य राजनीति के लिए पूरी तरह से अप्रासंगिक हो गया है. इतना दिलासा हम अपने को दे सकते हैं कि कट्टरता-हिंसा-हत्या-घृणा-अन्याय-जातिवाद की राजनीति से हमारा कुछ लेना-देना नहीं है. हम बहुलता, प्रश्नवाचकता, सच और असहमति पर अपना इसरार तेज़ करेंगे तो आज की राजनीति और सत्ता के लिए हमारी अप्रासंगिकता बढ़ेगी. हम आज अप्रासंगिक माने जाकर ही सच बोल सकते हैं, जनतांत्रिक हो सकते हैं. हिंदी अंचल की राजनीति से अलग, उसके विरुद्ध हिंदी साहित्य संकीर्णता, हिंसा-हत्या-घृणा की मानसिकता, दलितों-स्त्रियों-मुसलमानों आदि पर अत्याचारों का विरोध कर अपना नैतिक, सांस्कृतिक और जनतांत्रिक धर्म निभा सकता है.
- हिंदी समाज का अंत:करण संक्षिप्त हो रहा है. साहित्य इस समय अंत:करण होकर ही अपनी जनतांत्रिक भूमिका निभा सकता है. एक हताश प्रश्न उठता है, क्या हमारा जनतंत्र इस समय साहित्यातीत हो गया है? शायद जनतंत्र ने अपने मौजूदा स्वरूप में साहित्य को पीछे छोड़ दिया है. अब हम राजनीति के आगे चलनेवाली मशाल नहीं, स्वयं जनतंत्र द्वारा उपजाये-पोसे-बढ़ाये अंधेरे में कुछ मोमबत्तियां भर हैं. रवीन्द्रनाथ ने कभी कहा था कि एक नन्हा सा दीपक भी संसार को आलोकित करता है.

विचार में विलाप

- समाजशास्त्री और कलाप्रेमी सुरेश शर्मा के लिए आयोजित स्मृति सभा में यह स्पष्ट हुआ है कि इस सौम्य, शान्त पर अपनी दृष्टि पर दृढ़ विचारक के लिए बौद्धिक समाज में कितना गहरा सम्मान रहा है. वे जड़ों पर जमे थे पर उनकी जिज्ञासा अथक थी. उन्होंने आदिवासी समाज, जीवन और विश्वदृष्टि का गहरा और ज़मीनी अन्वेषण किया था. आधुनिकता से उनकी एक बड़ी शिकायत यह थी कि उसने आदिवासी जीवनबोध और पेगन दृष्टि को अतिक्रमित कर दिया.
- सुरेश शर्मा को गांधी-150 में, बहुत कृतज्ञतापूर्वक, उनके द्वारा बहुत जतन से संपादित 'हिन्द-स्वराज' के नये संस्करण के लिए भी याद किया जाना चाहिये. उनके निजी और सामाजिक व्यवहार में उनकी सौम्यता और दृढ़ता को एक तरह के गांधी-व्यवहार की तरह आसानी से देखा-समझा जा सकता है. अपने इतिहास और नृतत्व के अनुशासन से अलग सुरेश की कई क्षेत्रों के मूर्धन्यों से गहरी मित्रता और संवाद थे. उसमें दार्शनिक रामचन्द्र गांधी, चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन, लेखक निर्मल वर्मा, फ्रेंच बुद्धिजीवी एलांसूपियो आदि शामिल हैं. उन्होंने रज़ा की चित्रकला के बहाने 'शून्य' पर एक रोचक संवाद आयोजित किया था और कई बरस बाद रज़ा फ़ाउंडेशन के लिए 'शब्द और बिम्ब' पर एक अन्तरराष्ट्रीय परिसंवाद भी जो कि निर्मल वर्मा और जगदीश स्वामीनाथन की स्मृति में था.
- सुरेश ने उदयन वाजपेयी के साथ एक लंबी बातचीत में कहा था, 'आधुनिक चेतना का स्वबोध यह है कि उसने मानव इतिहास में पहली बार सर्वव्यापकता के स्वप्न को साकार कर दिया है. उसका यह मानना है कि उसके पहले की सर्वव्यापकता की कल्पना संकीर्ण और आंशिक थी और वह कभी भी सचमुच साकार नहीं हो सकती थी. वह स्वप्न मात्र थी. आधुनिक चेतना यह मानती है कि उसने मानव कल्पना में निहित दीर्घ प्रामाणिक तत्वों को यथार्थ रूप दिया है. एक अर्थ में जो आधुनिकता के पहले धुंधले विराट् अतीत में मात्र स्वप्न की मरीचिका या सान्त्वना थी, उसने उसे यथार्थ कर दिया है. ...

THE CORE IAS (A unit of just unlearn) www.thecoreias.com

उसका दावा है कि वह स्वर्ग को एक अर्थ में ज़मीन पर ले आयी है. पेगन बोध में सत्य की सर्वव्यापकता ऐसी है कि ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई काल नहीं, कोई ऐसी भाषा नहीं जिसमें वह घटित न होता हो.'

- उसी बातचीत में आगे सुरेश ने कहा, 'गांधी भले ही महान उपनिवेश-विरोधी आंदोलन के महान् नायक रहे हों, उनके लेखन-अभिव्यक्ति में राष्ट्र-राज्य के विषय या आदर्श पर लगभग कुछ नहीं है. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के महान प्रणेता सावरकर के पास संस्कृति पर कहने को कुछ नहीं है. गांधी का बड़ा योगदान यह रहा है कि विराट राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए कठिन से कठिन संघर्ष के क्षणों में उन्होंने राष्ट्रवाद के प्रति अपनी आलोचनात्मक दृष्टि को जीवंत बनाये रखा.'
- सुरेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि '... इस तरह का सभी प्राणियों के प्रति दायित्वबोध दूसरी परम्पराओं में भी मिलता है पर यह दायित्वबोध केवल मनुष्य प्रजाति के लिए नहीं था. पेगन परंपराओं में उत्तरदायित्व सभी के प्रति माना जाता था जो सबसे अधिक जीवंत रूप में आदिवासी जीवन में दिखायी देता है.' बस्तर में गहन काम करनेवाले इस विचारक ने यह भी दर्ज़ किया था. 'हमारे आदिवासी समुदायों में महिलाएं अंडा नहीं खातीं. उसके पीछे भाव यह है कि अंडे में जिस जीव के जीवन की संभावना सुषुप्त है उसे कम से कम एक बार पनपने का अवसर दिया जाना चाहिये. ऐसा न हो कि जीवन को अवसर न मिले प्रकट होने का और वह समाप्त हो जाये . जीवन को जीने से पहले ही समाप्त न करने का यह भाव सुन्दर है.'
- सुरेश बार-बार पेगन दृष्टि की ओर लौटते थे, 'पेगन परम्परा में सृष्टि की कल्पना में कोई सर्जक नहीं है. यहां ऐसा नहीं माना जाता कि यहां जो कुछ भी आंखों के सामने का अनुभव है, वह परम सत्य से भिन्न है. यह अवश्य है कि सत्य पारगामी है पर वह सृष्टि से अलग नहीं है. पेगन बोध और दृष्टि के अनुसार परम सत्य समस्त जगत में व्याप्त है. उसकी उपस्थिति के संकेत और उसका यथार्थ मानव प्रजाति तक सीमित नहीं है.'
- कई बार लगता है कि सुरेश शर्मा का विचार आधुनिक समय में पेगन दृष्टि और आदिवासी जीवन के लगातार अतिक्रमण पर एक तरह का बौद्धिक और मानवीय विलाप है. कम होता है पर होता है जब हम विचार को विलाप की तरह देख और महसूस कर सकते हैं.

गिरीश कर्नाड

- यह कहना अपर्याप्त है कि कन्नड़ लेखक, रंगकर्मी और अभिनेता गिरीश कर्नाड की मृत्यु भारतीय रंगजगत, साहित्य जगत और सिनेमा जगत की गहरी क्षति है. इन सभी क्षेत्रों में उनका अवदान असाधारण रूप से उत्कृष्ट था. पर उन्हें याद उनकी सामाजिक सक्रियता, अन्याय, स्वतंत्रता की कटौती के मुखर विरोध और अपने सृजन और विचार में अथक प्रश्नशीलता के लिए भी किया जायेगा. वे कांग्रेसी सरकार में अनेक संस्थानों जैसे संगीत नाटक अकादेमी, फ़िल्म इन्स्टीट्यूट, लंदन के नेहरू सेंटर आदि उच्च पदों पर आसीन रहे पर उन्होंने कभी किसी सत्ता का समर्थन नहीं किया और जब-तब अपनी असहमति सशक्त रूप से ज़ाहिर की.
- हममें से कई याद कर सकते है कि साठ के दशक में मोहन राकेश, विजय तेंदुलकर और बादल सरकार के साथ कर्नाड उन नाटककारों में से थे जिन्होंने भारतीय रंगमंच की शिथिल हो गयी प्रश्नवाचकता को उद्दीप्त और सजग करने में मूल्यवान् भूमिका निभायी थी. मेरे घनिष्ठ मित्र यूआर अनन्तमूर्ति से, दुर्भाग्यवश, कर्नाड के गहरे मतभेद थे. लेकिन अब दोनों के न रहने से कन्नड़ परिदृश्य बहुत विपन्न हो गया है जैसे कि समूचा भारतीय सांस्कृतिक परिदृश्य भी.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

संत कबीर का 'मुल्ला बांग' देता है, तो उनका पंडा भी पाखंडी है कि नहीं?

- लाउडस्पीकर की वजह से बढ़ रहा शोर और ध्वनि-प्रदूषण उत्तराखंड हाई कोर्ट के एक फैसले के चलते सुर्खियों में आ गया. हाई कोर्ट ने अपने इस आदेश में लाउडस्पीकर के लिए आवाज की अधिकतम सीमा पांच डेसिबल तय कर दी थी. किसी

व्यक्ति के सांस लेने की आवाज 10 डेसिबल होती है. अदालत ने राज्य सरकार को इस शर्त का पूरी तरह पालन सुनिश्चित करने का निर्देश दिया.

- इस चर्चा ने तब भी जोर पकड़ा था जब एक विख्यात गायक ने लाउडस्पीकर से अजान को लेकर टीका-टिप्पणी की. हालांकि गायक ने स्पष्टीकरण भी दिया था कि उसने अजान के साथ-साथ हिंदू और सिख धर्मस्थलों में लाउडस्पीकर के दुरुपयोग की ओर भी ध्यान दिलाया है. सार्वजनिक जीवन में लोकप्रिय और सर्वप्रसिद्ध कोई व्यक्ति जब ऐसा कुछ कहता है, तो ऐसे मुद्दों की ओर सहज ही बड़े पैमाने पर लोगों का ध्यान जाता है. मीडिया द्वारा इसे सनसनीखेज बनाने की भी कोशिशें होती हैं. तात्कालिक रूप से इसका सियासी और सांप्रदायिक फायदा उठा ले जाने वाले भी तुरंत सक्रिय हो जाते हैं.
- हम जानते हैं कि कबीर ने जब धर्मपंथों में व्याप्त पाखंड, बाह्याचार और अंधविश्वासों की ओर समाज का ध्यान दिलाना चाहा, तो उन्होंने केवल किसी एक धर्मपंथ पर कटाक्ष नहीं किया था. उन्होंने सामान्य रूप से सभी धर्मपंथों पर करुणा भरे व्यंग्य की भाषा में अपनी बातें कही हैं. जितना उन्होंने मुल्लों के समझाया, उतना ही पंडे-पुरोहितों को भी समझाया. उन्होंने तो अपनी तरह के साधुओं तक को समझाया. लेकिन उनके द्वारा किए गए कटाक्ष में द्वेष का कोई स्थान नहीं है. उनमें केवल करुणा है, प्रेम है, लोकमंगल के उद्देश्य से किया गया आह्वान है.
- जो संत होता है, महात्मा होता है, वह किसी भी व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष प्रति क्रोध, आवेश, आक्रोश, प्रतिक्रिया, घृणा इत्यादि से ग्रसित नहीं होता. उसके हृदय में सबके प्रति समान रूप से प्रेम, सहानुभूति और करुणा होती है. यदि वह किसी को फटकारता भी है, तो वह कबीर के ही शब्दों में 'अन्तर हाथ सहार दै, बाहर मारै चोट' जैसी फटकार होती है.
- कबीर जैसे संतों के लिए क्या राजा लोदी, क्या बाभन बुद्धिनाथ, क्या बनिया बाबूलाल और क्या बुधिया रंक. उन्होंने अपने साथ-साथ सबको एक ही पलड़े में तौला- 'आए हैं सो जाएंगे राजा रंक फकीर, एक सिंहासन चढ़ चले एक बंधे जंजीर' या 'एक दिन ऐसा होयगा, सबसे पड़ै बिछोह. राजा राना राव रंक सावध क्यों नहीं होय..'

और कबीर जैसे संत सांप्रदायिक विद्वेष के नहीं, बल्कि सांप्रदायिक सौहार्द्र के प्रतीक हैं. उन्होंने तो यह कहा,

भाई रे दुइ जगदीश कहां ते आया, कहु कौने बौराया.
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि-हजरत नाम धराया..
वोही महादेव वोही मोहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये.
को हिन्दू को तुरुक कहावे, एक जिमी पर रहिये..'

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- संतों का वचन हमें ऊपर-ऊपर से सामाजिक या राजनीतिक निहितार्थों वाला दिखाई देता हो भले, लेकिन अपने शुद्ध रूप में, अपने मौलिक रूप में, वह नितांत आध्यात्मिक होता है. वह तो हम जैसे सीमित साधना वाले लोग हैं, जो वहां तक पहुंच नहीं पाते. एक जाति, जाति-समूह या धर्मपंथ को दूसरी जाति, जाति-समूहों या पंथ के खिलाफ एक खड़ा करके राजनीतिक और सामाजिक व्याख्या अपेक्षाकृत आसान होती है. हम सबके अपने व्यक्तिगत अनुभव और अपनी वृत्तियों की वजह से वह हमें सुहाता भी है. इसलिए हम कबीर को भी जब-तब सामुदायिक संघर्ष के नज़रिए से देखने लगते हैं. जबकि आध्यात्मिक साधना से निकला स्वर अपने आप में हद दर्जे का क्रांतिकाराना स्वर होता अवश्य है, लेकिन उसका लक्ष्य कोई व्यक्तिविशेष या समुदायविशेष या पदविशेष नहीं होता, बल्कि मनुष्य की मौलिक वृत्तियां होती हैं.
- किसी जमाने में बिना-सोचे समझे वामपंथियों ने भी कबीर को अपना 'कॉमरेड' बनाने की कोशिश की थी. लेकिन आध्यात्मिकता के प्रति दुराग्रह के चलते ऐसे लोगों ने अब कबीर से कन्नी काट ली है
- पिछले कुछ दशकों में कबीर को एक राजनीतिक क्रांतिकारी साबित करनेवाली एक धारा सक्रिय रही है. आज दिनानुदिन प्रतिक्रियावादी होते जा रहे अस्मितावादी उभारों ने भी कबीर के राजनीतिक अपहरण की कोशिश शुरू कर दी है. एक

तरफ जहां उन्हें 'जुलाहा' जाति का साबित कर ओबीसी आंदोलन उन्हें हड़पने की तैयारी में है, वहीं दलित विमर्श भी उन्हें आध्यात्मिक कम और राजनीतिक ज्यादा साबित करने पर तुला हुआ है. किसी जमाने में बिना-सोचे समझे हमारे वामपंथी मित्रों ने भी कबीर को अपना 'कॉमरेड' बनाने की कोशिश की थी. लेकिन आध्यात्मिकता के प्रति दुराग्रह के चलते ऐसे लोगों ने अब कबीर से कन्नी काट ली है.

- यह जरूर है कि कबीर जैसे संतों को भी समाज से और शासन से दुत्कार और प्रताड़ना मिली हो सकती है, जो स्वाभाविक ही है. 'सांच कहौं तो मारन धावै' उन्होंने यूं ही नहीं कहा होगा. लेकिन फिर भी कबीर जैसे संतों को को किन्हीं समुदायों के खिलाफ खड़ा करके राजनीतिक धारा में नहीं घसीटना चाहिए. उनके हृदय में तो कथित 'ब्राह्मणों' तक के लिए समान रूप से करुणा का भाव था- 'धर्म करै जहां जीव बधतु हैं, अकरम करै मोरे भाई. जौं तोहरा को ब्राह्मण कहिए, काको कहिए कसाई..' और फिर 'न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर' या 'घट-घट में वह साईं बसतु हैं' वाले कबीर के प्रेम और करुणा की इंतहा तो यह थी कि उन्हें कोई दूसरा भी 'दूसरा' नहीं लगता था. तभी तो उन्होंने कहा होगा- 'मैं लागा उस एक से एक भया सब मांही. सब मेरा मैं सबन का तिन्हा दूसरा नाहीं..'
- लेकिन हमारे-आपके जैसे लोग जब अपने द्वेष और अहंकार की तुष्टि के लिए कबीर या अन्य संतों के शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं, तो जाने-अनजाने उन्हें किसी जाति-विशेष, पंथ-विशेष अथवा संप्रदाय-विशेष के खिलाफ खड़े करने का कुप्रयास करते हैं. इससे न केवल उन संतों के प्रति लोगों में गलतफहमी, खीज और अश्रद्धा उत्पन्न होती है, बल्कि इससे सामनेवाले से जिस सुधार की हम अपेक्षा कर रहे होते हैं उसका ठीक उल्टा होता है. कारण कि उन समुदायों के प्रति कहीं न कहीं हमारे मन के किसी चोर कोने में द्वेष और पूर्वग्रह भरा होता है. बात भले ही हम किन्हीं संत के हवाले से कह रहे हों, लेकिन हमारा अपना द्वेष और पूर्वग्रह साफ जाहिर हो जाता है. इसलिए वह बात अपनी जगह सही होकर भी वांछित असर पैदा करनेवाली नहीं हो पाती.
- क्योंकि इसी चालाकी का इस्तेमाल करते हुए यदि लोग आपके 'धर्मपंथ' के ऊपर कबीर की कही गई बातें चुटकुले और उपहास के रूप में रोजाना शेयर करने लग जाएं, तो आपके मन में भी केवल खीज ही पैदा होगी
- आज जब हम तीन तलाक की बात करते हैं, गौरक्षा की बात करते हैं, ध्वनि-आतंक की बात करते हैं और इसे हथियार बनाकर किसी संप्रदाय के खिलाफ मोर्चा खोल देते हैं, तो होता क्या है? होता यह है कि यह फिर नारी कल्याण, पशु-सुधार और ध्वनि प्रदूषण का मुद्दा नहीं रहकर, एक शरारतपूर्ण और हिंसक ढकोसला बनकर रह जाता है. यह किसी संप्रदायविशेष को जलील करने, मुंह चिढ़ाने और नीचा दिखाने का उपक्रम बन जाता है. और यही बात अन्य संप्रदायों द्वारा हिंदुओं, ईसाइयों और बौद्धों इत्यादि के प्रति किए जाने वाले चिढ़ाऊ प्रयासों के बारे में भी कही जा सकती है. लेकिन इससे हासिल क्या होता है? इससे संप्रदायों में केवल आपसी घृणा बढ़ती है, तनाव और अविश्वास बढ़ता है. असल मुद्दा और उद्देश्य अपने रास्ते से भटक जाता है, और कुछ का कुछ हो जाता है. गांव-मोहल्ले में भीड़तंत्र और सोशल मीडिया पर ट्रोलतंत्र इसे अपनी गिरफ्त में ले लेता है. सियासतदान राजनीतिक नफा-नुकसान के आधार पर अपना रुख तय करने लगते हैं. और टीवी स्टूडियो की नाटकीय प्रस्तुतियां हमारी संवेदनाओं को भोथरा करती जाती हैं.
- 1920 में चंपारण के अपने दूसरे दौरे में महात्मा गांधी बेतिया के उस गोशाला में भी गए जिसकी स्थापना उन्होंने 1917 में स्वयं की थी. इस गोशाला में अपने संबोधन में उन्होंने बड़े मार्के की बात कही. गोरक्षा के मुद्दे पर उनका कहना था - 'हमने (हिंदुओं ने) अपने बर्ताव से गोहत्या को मुसलमानों का फर्ज बना दिया है.' मतलब यह कि जब आप किसी संप्रदाय के साथ शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाएंगे, तो वे भी प्रतिक्रिया में आपकी दुखती रग पर हाथ रख सकते हैं.
- किसी निर्माणाधीन 'राष्ट्र' में एक संप्रदाय द्वारा दूसरे संप्रदाय को चिढ़ाने का खेल खतरनाक होता है. आज हमारी 'भावना' रुई के फाहे की तरह नाजुक हो गयी है. वह सड़ी हुई नारंगी की तरह पिलपिली हो गई है. किसी के भी छूने मात्र से यह आहत हो जाती है. 'धर्मपंथ' इतना कमजोर हो गया है कि उसकी रक्षा के लिए ईशनिंदा कानून बनाने पड़ते हैं. अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक विवाहों को जिहाद और फसाद में बदलते देर नहीं लगता.

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- ऐसे में, संतों की वाणी के मामले में हमें और भी सतर्क रहना चाहिए. कम से कम उन्हें और उनके शब्दों को तो अपने संकीर्ण दायरों से ऊपर रखें. क्योंकि इसी चालाकी का इस्तेमाल करते हुए यदि लोग आपके 'धर्मपंथ' के ऊपर कबीर की कही गई बातें चुटकुले और उपहास के रूप में रोजाना शेयर करने लग जाएं, तो आपके मन में भी केवल खीज ही पैदा होगी. आप समझ नहीं पाएंगे कि किसी संत ने ऐसा करुणा के वश होकर कहा था, द्वेष के वश होकर नहीं. आप में कोई सकारात्मक परिवर्तन होने के बजाए केवल प्रतिक्रिया ही पैदा होगी. और उस संत के प्रति गलतफहमी और अश्रद्धा उत्पन्न होगी सो अलग.
- एक संप्रदाय जब केवल दूसरे संप्रदाय के छिद्रान्वेषण और सुधार में अपना समय और अपनी ऊर्जा लगाने लगता है, तो स्थिति वैसी ही हो जाती है जिसे हम 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद' का चरितार्थ होना कहते हैं
- तो ऐसी स्थिति में करें क्या? क्या जरूरी मुद्दों पर भी चुप रह जाएं? महिलाओं की स्थिति में सुधार और ध्वनि-प्रदूषण जैसे विषयों पर भी न बोलें? अवश्य बोलें, लेकिन निरपेक्ष भाव से बोलें तो ज्यादा असर पैदा करेगा. नहीं तो हर बात की तरह हिंदू बनाम मुस्लिम और बाभन बनाम दलित में उलझ जाएंगे. गांधी ने इसका एक तरीका सुझाया था. जब दलितों के मंदिर में प्रवेश के लिए केरल में वाइकोम मंदिर सत्याग्रह शुरू हुआ तो गांधी ने मलयाली अखबार अल-अमीन के संपादक अब्दुर रहीमान को इस सत्याग्रह में शामिल नहीं होने की सलाह दी. ठीक इसी तरह उन्होंने साप्ताहिक पत्र 'यंग इंडिया' के संपादक जॉर्ज जोसेफ को भी इस आंदोलन में सीधे सत्याग्रही के तौर पर नहीं जुड़ने की सलाह दी. सिखों को भी वहां अपना लंगर लगाने से मना किया.
- इस बारे में अपनी स्थिति को साफ करते हुए 8 मई, 1924 को यंग इंडिया में गांधी ने लिखा- 'मुझे लगता है कि वाइकोम सत्याग्रह अपनी मर्यादाएं भंग करने लगा है. मैं तो यह चाहता हूं कि सिख यहां अपना लंगर लगाना बंद कर दें और यह आंदोलन सिर्फ हिंदुओं तक सीमित रहे. यदि मालाबार के हिंदू सुधारक गैर-हिंदुओं की सहानुभूति के अलावा और किसी प्रकार की सहायता अथवा हस्तक्षेप स्वीकार करेंगे तो सारे हिंदू समाज की हमदर्दी खो बैठेंगे. ...वाइकोम में यदि अहिंसापूर्ण तरीकों से विजय हासिल की गई तो इसमें शक नहीं कि पण्डे-पुजारियों द्वारा फैलाए गए अन्धविश्वासों के गढ़ की नींवें आमतौर पर हिल जाएंगी. ...लेकिन अगर ईसाई, मुसलमान, अकाली और इन हिंदू-सुधारकों के सभी गैर-हिंदू मित्र भी कट्टरपंथी हिंदुओं के खिलाफ प्रदर्शन करने लगें. इन सुधारकों की रुपये-पैसे से मदद करने लगें और अंत में उन्हें आतंकित करके उन पर हावी हो जाएं, तो हिंदू धर्म का क्या होगा? क्या हम इसे सत्याग्रह कह सकेंगे? क्या सनातनी लोगों के घुटने टेक देना स्वेच्छा-प्रेरित कहा जाएगा? क्या उसे हिंदू धर्म में सुधार कहेंगे?'
- कहने का मतलब यह कि एक संप्रदाय जब केवल दूसरे संप्रदाय के छिद्रान्वेषण और सुधार में अपना समय और अपनी ऊर्जा लगाने लगता है, तो स्थिति वैसी ही हो जाती है जिसे हम 'चलनी दूसे सूप को जिसमें बहत्तर छेद' का चरितार्थ होना कहते हैं. किसी फिल्मी संवाद का सहारा लेकर कहें तो जिनके खुद के घर शीशे के होते हैं, उन्हें दूसरों के घरों पर पत्थर नहीं फेंकना चाहिए. हम पहले अपने घर, अपने समुदाय, अपने संप्रदाय को ऐसा आदर्श बनाएं कि हमारा पड़ोसी भी वैसा ही बनना चाहे. यदि समालोचना करनी ही हो, तो उसके लिए पहले निरपेक्ष नजरिए का विकास करना चाहिए. स्वयं में आत्मालोचना का साहस पैदा करना चाहिए. और जैसा कि उचित है कि शुरुआत हमेशा अपने घर, समुदाय या संप्रदाय से करनी चाहिए.
- कबीर जैसे करुणावान लेकिन कटु सत्य बोलनेवाले महात्माओं को तो आज हम एक पल के लिए भी बरदाश्त न कर पाते. शायद जीने भी नहीं देते
- आज भारत का बहुसंख्यक संप्रदाय आत्महीनता का शिकार हुआ लगता है. ठीक इसी तरह यहां के अल्पसंख्यक समुदाय भी विक्टिमहुड या पीड़ितपने का शिकार दिखाई देते हैं. इन दोनों को ही इन दोनों प्रकार के आग्रहों से बाहर निकलना होगा. तभी कोई वास्तविक संवाद भी संभव होगा. अभी क्या है कि यदि हमने गौरक्षा के नाम पर चल रही विवेकहीन हिंसा पर विनम्रतापूर्वक भी कुछ कहा, तो इसे 'मुस्लिम तुष्टिकरण' का नाम दे दिया जाएगा. ठीक इसी तरह यदि हमने भूले से भी

THE CORE IAS
(A Unit of Just Unlearn)
www.thecoreias.com

भारतीय परंपरा का जिक्र कर दिया, तो इसे 'हिंदू पुष्टिकरण' का नाम दे दिया जाएगा. ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि हमने उदारता, तटस्थता और अनेकांतता के नजरिए से विचारों और घटनाओं को देखना बंद कर दिया है.

- इसलिए जिन संतों ने खुद को तपाकर अपनी आध्यात्मिक अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार किया. जिनका हृदय प्राणिमात्र के लिए करुणा से भर गया. उनकी वाणी को भी गाली के रूप में इस्तेमाल करने की चेष्टा करने लगते हैं. इससे अपनी आध्यात्मिक और नैतिक क्षति तो होती ही है, देश और समाज का भी लाभ होने के बजाय नुकसान ही होता है. इसलिए संतों और उनकी वाणियों के प्रति अवसरवादी किस्म का प्रेम पालने के बजाय हमें सबके प्रति अनंत और शर्तरहित प्रेम की ओर बढ़ना पड़ेगा.
- कबीर जैसे संतों के कंधे पर रखकर अपनी द्वेषपूर्ण भड़ास वाली बंदूक किसी एक संप्रदाय के खिलाफ चलाने का प्रयास वैसा ही होगा, जिसे अंग्रेजी में 'डेविल क्वोटिंग बाइबल' (शैतान खुद ही बाइबिल बांचने लग जाए) वाली स्थिति कहते हैं. हमें अपने भीतर के उस शैतान को पहचानकर उसे निकाल बाहर करना होगा. संत और उनकी वाणी इसी में तो हमारी मदद करते हैं.
- हमसे भले तो हमारे पूर्वज मालूम होते हैं, जिन्होंने संतों की कटु वाणियों को भी शिरोधार्य किया, उनसे मार्गदर्शन लिया. कबीर जैसे करुणावान लेकिन कटु सत्य बोलनेवाले महात्माओं को तो आज हम एक पल के लिए भी बरदाश्त न कर पाते. शायद जीने भी नहीं देते. जबकि किंवदंतियों में ऐसा कहा जाता है कि कबीर के शव को अपनाने के लिए हिंदू और मुसलमान दोनों ही लड़ पड़े थे. 1655 की आईने-ए-अकबरी वाली पांडुलिपि में कबीर की स्वाभाविक मृत्यु और शव को दफनाने और जलाने को लेकर 'ब्राह्मणों ' और मुसलमानों के बीच विवाद का जिक्र है. लिखा है- 'चूं खानए उस्तुख्वानी वा परदाख्त बरहमन बसोख्तन रू आर्बूद वा मुसलमान बगोरिस्तान बुर्दन.'

क्या कृष्ण का कश्मीर से भी कोई संबंध था?

- पौराणिक कथाओं या मिथकों को इतिहास का कोई प्रामाणिक स्रोत नहीं माना जाता. लेकिन दुनिया के हर हिस्से का लोक-समाज अपनी सांस्कृतिक पहचान को किसी-न-किसी ऐसी प्राचीन कथा से जोड़कर देखता ही है. भौतिकवादी धरातल पर ऐसी कहानियों की ऐतिहासिक पुष्टि मुश्किल होती है. लेकिन कुछ मिथक इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे चाहे-अनचाहे अलग-अलग दौर के इतिहासकारों के मानस में प्रवेश कर जाते हैं. उपनिषदों से लेकर रामायण, महाभारत, बाइबिल और हदीसों की कहानियों तक के ऐतिहासीकरण का प्रयास होता रहा है. प्राचीन यूनान की कहानियां भी कई बार इतिहास की शक्ल में परोस दी जाती हैं, जबकि यूनानियों ने ही संभवतः पहली बार 'लोगोस' (सत्य अथवा तर्क या तथ्य आधारित ज्ञान) और माइथोस (अपुष्ट कथा-कहानियों) में शास्त्रीय भेद किया था.
- यानी कि इतिहास को समझने के इंसानी प्रयासों की अपनी सीमाएं हैं और इतिहास वास्तव में कहीं-न-कहीं इन दोनों के बीच में ही पाया जाता है. इतिहास को अगर हम वर्तमान के आइने में समझने की कोशिश करेंगे, तो पाएंगे कि मौजूदा घटनाओं, परिघटनाओं और व्यक्तित्वों तक के बारे में पुष्ट-अपुष्ट और परस्पर-विरोधी तथ्यों, कहानियों और व्याख्याओं की भरमार होती है. ऐसे में समझा जा सकता है कि दो हज़ार साल बाद की पीढ़ी जब हमारे आज के वर्तमान को ठीक-ठीक समझने की कोशिश करेगी तो उसमें कितना तथ्य होगा और कितना कथ्य होगा.
- कश्मीर के प्राचीन इतिहास को समझने के लिए जो स्रोत उपलब्ध हैं उनमें छठी से आठवीं शताब्दी के बीच लिखे गए 'नीलमत पुराण' का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है. बारहवीं सदी में कल्हण द्वारा लिखे गए प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में इसे ऐतिहासिक स्रोत के रूप में शामिल किया गया है. बाद में मुस्लिम इतिहासकारों, जैसे- चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए नुरूद्दीन (जिन्हें नुंद ऋषि भी कहा जाता है) के ग्रंथ 'नूरनामा' में भी इन कहानियों को थोड़े फेर-बदल के साथ

THE CORE IAS
(Aspire to be just different)
www.thecoreias.com

कश्मीर के प्राचीन इतिहास के तौर पर अपनाया गया. अकबर के दरबारी इतिहासकार और 'आइन-ए-अकबरी' के लेखक अबुल फजल ने भी इन कहानियों को अपने इतिहास में स्थान दिया.

- इसके बाद ख्वाजा मुहम्मद आज़म दीदामरी नाम के सूफी लेखक ने फारसी में 'वाक़यात-ए-कश्मीर' नाम से 1747 में एक किताब प्रकाशित की जिसकी कहानियां पौराणिक कथाओं की तर्ज पर लिखी गई थीं. उनके बेटे बेदियाउद्दीन ने भी इसी परंपरा को जारी रखा. कश्मीर के इतिहास-लेखन में इन कहानियों को शामिल करने की परंपरा आधुनिक इतिहासकारों तक जारी रही है, चाहे वह 1960 में प्रकाशित एचएच विल्सन द्वारा लिखित 'दी हिन्दू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर' हो या फिर 1962 में पृथ्वी नाथ कौल बम्ज़ाई द्वारा लिखित 'ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर'.
- इन सभी पुस्तकों में मथुरा के कृष्ण का जिक्र आता है. नीलमत पुराण और राजतरंगिणी में एक प्रमुख कहानी महाभारतकालीन राजा गोनंद की है. कल्हण तो यहीं से अपना इतिहास शुरू करते हैं. इन ग्रंथों के मुताबिक कश्मीर का राजा गोनंद प्रथम कृष्ण का समकालीन था और वह मगध के राजा जरासंध का रिश्तेदार था. जब यमुना के तट पर कृष्ण और जरासंध का युद्ध चल रहा था तो गोनंद अपनी विशाल सेना के साथ जरासंध की मदद के लिए पहुंचा. गोनंद ने कृष्ण के किले पर कब्जा कर कृष्ण की घेराबंदी कर दी. लंबे समय तक गोनंद की सेना ने वीरता के साथ युद्ध किया, लेकिन आखिरकार गोनंद कृष्ण के भाई बलराम या बलभद्र के हाथों मारा गया.
- गोनंद के बाद उसका बेटा दामोदर कश्मीर का राजा बना. वह कृष्ण से अपनी पिता की मौत बदला लेने के लिए आतुर था, लेकिन उसने सही मौके का इंतज़ार किया. थोड़े समय बाद सिंधु के तट पर गांधार के राजा ने एक स्वयंवर का आयोजन किया. इस स्वयंवर में कृष्ण ने भी अपने बाकी यदुवंशी सगे-संबंधियों के साथ भाग लिया. स्वयंवर के बाद जब दुल्हन को लेकर सभी लौट रहे थे, तो दामोदर ने इसे उपयुक्त अवसर मानकर कृष्ण पर आक्रमण कर दिया. इस आक्रमण की अफरा-तफरी में दुल्हन मारी चली गई और क्रोध में आकर दूल्हे और उसके साथियों ने दामोदर की सेना को पराजित कर दिया. कृष्ण ने अपने सुदर्शन चक्र से दामोदर का अंत कर दिया.
- लेकिन दामोदर की पत्नी यशोवती उन दिनों गर्भवती थी. कृष्ण ने यशोवती की चिंता दूर करने के लिए ब्राह्मणों को कश्मीर भेजा. कृष्ण ने यशोवती को कश्मीर की रानी बना दिया. यह बात दरबारियों को स्वीकार नहीं थी कि कोई महिला शासक बने. इन दरबारियों को शांत करने के लिए कृष्ण ने जो कहा उसका वर्णन नीलमत पुराण के इस श्लोक में मिलता है.

कश्मीराः पार्वती तत्र राजा ज्ञेयो हरांशजः।
नावज्ञेयः स दुष्टोपि विदुषा भूतिमिच्छता।।
पुंसां निगौरवा भोज्ये इव याः स्त्रीजने दृशः।
प्रजानां मातरं तास्तामपश्यन्देवतामिव।।

THE CORE IAS
(A unit of just unlearn)
www.thecoreias.com

- अर्थात् कश्मीर की धरती (कुछ अनुवादों के अनुसार कश्मीर की लड़कियां) पार्वती है. यह जान लो कि उसका राजा शिव का ही एक अंश है. वह यदि दुष्ट भी हो, तो भी विद्वतजनों को चाहिए कि राज्य के कल्याण के लिए उसका अपमान न करें. स्त्री को भोग की वस्तु माननेवाला पुरुष भले ही उसका सम्मान करना न जानता हो, लेकिन प्रजा उसमें अपनी माता या एक देवी को ही देखेगी.
- कृष्ण के ऐसा कहने पर दरबारी या मंत्रीगण शांत हो गए और यशोवती को कश्मीर की रानी, देवी और प्रजा की माता की तरह मानने लगे. थोड़े समय बाद यशोवती ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम गोनंद द्वितीय रखा गया. बचपन में ही उसका राज्याभिषेक कर दिया गया. जब महाभारत का युद्ध लड़ा जा रहा था तो गोनंद द्वितीय बहुत छोटा था, इसलिए उसे कौरव या पांडव किसी की ओर से आमंत्रित नहीं किया गया. यही कारण है कि महाभारत युद्ध के दौरान विभिन्न राज्यों का जिक्र तो मिलता है, लेकिन कश्मीर का नहीं मिलता.
- उल्लेखनीय है कि बाद में जब कश्मीर में वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ तो वहां विष्णु के अवतार राम की पूजा का जिक्र देखने को नहीं मिलता, लेकिन गोपाल कृष्ण की पूजा देखने को मिलती है. राजा ललितादित्य जिनके शासनकाल को कश्मीर का

स्वर्ण-युग कहा जाता है, उनके काल में बने मंदिरों और कलाकृतियों में भी गोपियों के बीच बैठे कृष्ण और यमुना इत्यादि का चित्रण मिलता है, लेकिन राम का नहीं मिलता. कल्हण ने अवश्य अपनी राजतरंगिणी में 35 वर्षों तक राज करने वाले गोनंद तृतीय को एक महान राजा बताते हुए उसकी तुलना अयोध्या के महान राजा राम से की है.

THE CORE IAS

The Core IAS

India's First Institute dedicated to Answer writing

Answer Writing

Classes - 2020

(Answer Writing is a Process Not a Product)

Current Affairs

Prelims - 2020

Test-Series Available
Online & Offline

Courses

Environment & Ecology	Disaster Management
GS Paper - II	Governance + IR
Sanskrit Paper - II	Hindi Literature
Political Science (Optional)	Economy
Geography	CSAT

103, B5/6, 2nd Floor Himalika Commercial Complex, Behind UCO Bank Dr. Mukherjee Nagar

☎ 011-41008973, 8800141518